अल-रिसाला

सितंबर-अक्टूबर 2024

अल-रिसाला

सितंबर-अक्टूबर 2024

CPS International
centre for peace & spirituality

माहनामा 'अल-रिसाला' को हिंदी स्क्रिप्ट में लाने की यह हमारी एक कोशिश है। मुश्किल उर्दू अल्फ़ाज़ को भी आसान कर दिया गया है, ताकि ज़्यादा-से-ज़्यादा लोग इसे पढ़कर फ़ायदा उठाएँ और अपनी ज़िंदगी, अपनी शख़्सियत में मुस्बत (positive) बदलाव ला सकें।

नीचे दी गई हमारी वेबसाइट और सोशल मीडिया पेजिस से मज़ीद फ़ायदा उठाएँ।

संपादकीय टीम

आरिफ़ हुसैन आलम, सैफ़ अनवर
मोहम्मद आरिफ़, फ़रहाद अहमद
ख़ुर्रम इस्लाम क़ुरैशी, इरफ़ान रशीदी

Centre for Peace and Spirituality International
1, Nizamuddin West Market,
New Delhi-110013
info@cpsglobal.org
www.cpsglobal.org

cpsglobal.org
twitter.com/WahiduddinKhan
facebook.com/maulanawkhan
youtube.com/CPSInternational
+91-99999 44118
t.me/maulanawahiduddinkhan
linkedin.com/in/maulanawahiduddinkhan
instagram.com/maulanawahiduddinkhan

To order books of
Maulana Wahiduddin Khan, please contact
Goodword Books
Tel. 011-41827083,
Mobile: +91-8588822672
E-mail: sales@goodwordbooks.com

Goodword Bank Details
Goodword Books
State Bank of India
A/c No. 30286472791
IFSC Code: SBIN0009109
Nizamuddin West Market Branch

विषय-सूची

सबसे बड़ा	4
ख़ुदा और इंसान	5
रहमत-ए-ख़ुदावंदी	6
मक़सद-ए-ज़िंदगी	8
दरियाफ़्त-ए-हक़ की शर्त	9
ख़ुदा का क़ानून	11
मईशत-ए-ज़नक (तंगहाली की ज़िंदगी)	12
होने वाली बात	14
हुक्म अल्लाह का	15
उम्मत का इम्तिहान	16
शहादत अलन्नास	18
एहसान का मुक़ाम	19
मदऊ से शिकायत	21
माहौल का असर न लेना	22
मदऊ का मुताला	24
करने का काम	25
दौर-ए-अम्न की तरफ़	31
नई मंसूबा-बंदी	32
मज्मूआ-ए-अल्फ़ाज़	33

शख़्सियत का डेवलपमेंट 35
मनफ़ी सोच का तूफ़ान 36
तब्दीलियों की हक़ीक़त 38
मैं ग़लती पर था 39
इस्लाह का तरीक़ा 40
ख़ुशी का राज़ 42
मुताला-ए-हदीस 43
डायरी : 1986 50
एक इंटरव्यू 56
सवाल-ओ-जवाब 64
हक़ीक़त-पसंदी 67

सबसे बड़ा

नमाज़ के वक़्त मुअज़्ज़िन ऊँचाई पर खड़ा होकर बुलंद आवाज़ से पुकारता है— अल्लाहु अकबर यानी अल्लाह सबसे बड़ा है। अज़ान और नमाज़ दोनों को मिलाकर देखा जाए, तो पाँच वक़्त की नमाज़ों में 'अल्लाहु अकबर' का कलिमा रोज़ाना तक़रीबन तीन सौ बार दोहराया जाता है। यह कायनात की सबसे बड़ी सच्चाई का ऐलान है। यह वह पुकार है, जो सच्चाई की दरियाफ़्त पर इंसान की पूरी शख़्सियत की तरजुमान बनकर आदमी के दिल से निकल पड़ी है। इससे मालूम हुआ कि दीन-ए-इस्लाम में सबसे ज़्यादा अहमियत इस बात की है कि एक इंसान ईमान वाला बनकर अल्लाह की अज़्मत को दरियाफ़्त करे। अल्लाह रब्बुल आलमीन की अज़्मत उसके शऊर का सबसे ज़्यादा अहम हिस्सा बन जाए।

असल यह है कि इंसान के अंदर एक दाख़िली फ़ितरत (inner core) है, जिस पर अल्लाह तआला ने इंसान को पैदा किया है (सूरह अर-रूम, 30:30)। जब इंसान का शऊर सच्चाई की तलब में फ़ितरत के इस दाख़िली गोशे (inner core) तक पहुँच जाए कि उसकी अंदरूनी फ़ितरत आख़िरी हद तक जाग उठे, तो इसी का नाम मारिफ़त (God consciousness) है। अल्लाह की मारिफ़त इंसान की शख़्सियत की बेदारी का वह दर्जा है, जबकि उसकी शख़्सियत इस तरह जाग उठे कि उसका कोई गोशा जागने से बचा हुआ न हो।

किसी इंसान की शख़्सियत में जब इस क़िस्म का इंक़लाब आता है, तो वह एक नया इंसान बन जाता है। उसका सोल कंसर्न सिर्फ़ अल्लाह बन जाता है। उसकी सारी वफ़ादारी एक अल्लाह के लिए हो जाती है। अल्लाह उसकी तलब का मरकज़ बन जाता है।

उसकी ज़ुबान से ऐसे अलफ़ाज़ निकलने लगते हैं, जो इससे पहले नहीं निकले थे। उसे महसूस होता है, जैसे कि अल्लाह उसका सब कुछ बन गया है। यह इंसानी दरियाफ़्त का आला तरीन मक़ाम है। दरियाफ़्त की इस सतह पर पहुँचकर आदमी के दिल से जो दुआएँ निकलती हैं, उसकी एक मिसाल क़ुरआन में आसिया बिंत मुज़ाहिम की दुआ है। जब फ़िरऔन उसे क़त्ल करने के लिए तलवार लेकर खड़ा हो गया, तो उस वक़्त आसिया की ज़ुबान से दुआ के जो अलफ़ाज़ निकले, उसका ज़िक्र क़ुरआन में इन अलफ़ाज़ में आया है—

رَبِّ ابْنِ لِي عِندَكَ بَيْتًا فِي الْجَنَّةِ.

"ऐ मेरे रब, मेरे लिए एक घर बना दे, अपने पास जन्नत में।"

(क़ुरआन, 66:11)

यह दुआ अल्लाह की गहरी दरियाफ़्त से निकली हुई दुआ है।

ख़ुदा और इंसान

आज इंसान एक ऐसी दुनिया में रहता है, जो मकान-ओ-ज़मान (space and time) पर मबनी है। इस दुनिया में ख़ुदा 'रब्बुल आलमीन' की हैसियत से एक सिरे पर है और इंसान 'मख़्लूक़' की हैसियत से दूसरे सिरे पर; लेकिन अगर ऐसा हो कि ज़मान-ओ-मकान की हदें ख़त्म हो जाएँ, तो वहाँ पर ख़ुदा कहाँ होगा और इंसान कहाँ होगा? क्या दोनों फिर भी अलग-अलग होंगे या दोनों एक हो जाएँगे?

इस सवाल का जवाब यह है कि ख़ुदा एक ला-महदूद हस्ती (Unlimited Being) है। ख़ुदा ही अव्वल है और वही आख़िर है (अल-हदीद, 57:3)। वह अज़ल से है और अबद तक रहेगा। ख़ुदा ऐसा इसीलिए है, क्योंकि वह ख़ालिक़ है। इंसान ऐसा नहीं है, क्योंकि वह

मख़्लूक़ है। ख़ुदा और इंसान के दरमियान यह फ़र्क़ हमेशा बाक़ी रहेगा। वह कभी ख़त्म होने वाला नहीं। ख़ुदा ला-महदूद है (unlimited) और वह हमेशा ला-महदूद ही रहेगा। इसके मुक़ाबले में इंसान लिमिटेड है और वह हमेशा लिमिटेड ही बाक़ी रहेगा। किसी को यह ताक़त नहीं है कि वह इस 'इक्वेशन' (equation) को बदल दे। ख़ुदा और बंदे के दरमियान यह पोज़ीशन कभी बदलने वाली नहीं। इस मौज़ू से मुताल्लिक़ तमाम सवालों का जवाब यही है। यह जवाब इतना ज़्यादा हतमी (अंतिम) है कि इसमें कभी तब्दीली आने वाली नहीं। इस मसले पर जो सवालात किए जाते हैं, वे सब ग़ैर-मंतिक़ी (illogical) हैं।

हक़ीक़त यह है कि इंसान एक ऐसी मख़्लूक़ है, जो ज़मान-ओ-मकान के अंदर पाया जाता है। इसके मुक़ाबले में ख़ुदा एक ऐसी हस्ती है, जो ज़मान-ओ-मकान (beyond space and time) से मावरा है। ऐसी हालत में इंसान के लिए इस मामले में सिर्फ़ एक ही ऑप्शन है—वह यह कि इस फ़ितरी हक़ीक़त को वह बतौर-ए-वाक़या मान ले, न कि अपने महदूद ज़ेहन के साथ इसे गहरे तौर पर समझने की कोशिश करे। इस मामले में हक़ीक़त-ए-वाक़या यह है कि इंसान मख़्लूक़ है, वह ख़ालिक़ नहीं बन सकता। ख़ुदा ख़ालिक़ है, वह मख़्लूक़ नहीं। इसलिए यह मुमकिन नहीं कि वह मख़्लूक़ की समझ के हिसाब से एक्सप्लेन (explain) हो सके।

रहमत-ए-ख़ुदावंदी

क़ुरआन की एक आयत का तर्जुमा यह है—

> "कहो कि ऐ मेरे बंदो, जिन्होंने अपनी जानों पर ज़्यादती की है, अल्लाह की रहमत से मायूस न हों, क्योंकि अल्लाह तमाम गुनाहों को बख़्शने वाला है।" (क़ुरआन, 39:53)

इस आयत से बज़ाहिर ऐसा मालूम होता है कि माफ़ी का यह मामला अपने आप हो जाता है। बंदा ग़लती करता रहता है और अल्लाह ख़ुद-ब-ख़ुद उसे माफ़ करता रहता है, मगर बात यह नहीं है। इस आयत के दरमियान एक चीज़, जिसका बज़ाहिर ज़िक्र नहीं किया गया है, लेकिन क़ुरआन के उस्लूब की बिना पर यह बात तयशुदा है कि वह यहाँ यक़ीनी तौर पर मौजूद है। वह बात यह है कि बंदा ग़लती करने के बाद माफ़ी माँगे, तो अल्लाह की रहमत का तक़ाज़ा होगा कि वह उसे माफ़ कर दे।

यह बात एक आम इंसान के लिए नहीं है, बल्कि वह उस इंसान के लिए है, जिसके अंदर उसका ज़मीर ज़िंदा हो। ग़लती करने के बाद उसके अंदर शर्मिंदगी (repentance) का जज़्बा जाग उठता है। वह शदीद एहसास के साथ अल्लाह से माफ़ी का तालिब बन जाता है। शदीद एहसास-ए-नदामत की बिना पर उस वक़्त वह ऐसे अलफ़ाज़ बोलता है, जो अल्लाह की रहमत को तलब (invoke) करने वाले होते हैं। उसकी ग़लती सिर्फ़ आम क़िस्म की ग़लती नहीं होती, बल्कि उसके बाद शिद्दत-ए-नदामत की बिना पर उसके अंदर एक नई शख़्सियत एमर्ज करती है। वह गुनाह से पहले जैसा इंसान था, वह गुनाह के बाद उससे मुख़्तलिफ़ एक नया इंसान बन जाता है। जब इंसान की ग़लती उसके लिए अंदरूनी इंक़लाब का ज़रिया बन जाए, तो उसका केस ऐसा केस बन जाता है, जो अल्लाह की रहमत को इनवोक कर दे और अल्लाह अपनी रहमत-ए-ख़ास की बिना पर उसके लिए माफ़ी का एलान कर दे। यह एक वाक़या है कि अल्लाह अपनी रहमत से बंदे के हर गुनाह को बख़्श देता है, मगर यह वही बंदा है, जिसका गुनाह उसकी शख़्सियत में इतना ज़्यादा इंक़लाब लाए कि उसके बाद वह एक नया इंसान बन जाए।

मक़सद-ए-ज़िंदगी

क़ुरआन की एक आयत बताती है कि इंसान और जिन्न को इसलिए पैदा किया गया कि वे अल्लाह की इबादत करें (52:56)। ग़ौर करने से मालूम होता है कि यहाँ वह इबादत मुराद है, जिसे 'मबनी बर मारिफ़त इबादत' कहा जा सकता है। फ़ुज़ैल बिन अयाज़ (वफ़ात : 187 हिजरी) का क़ौल है कि मोमिन का कलाम हिकमत होता है, उसकी ख़ामोशी ग़ौर-ओ-फ़िक्र होती है और उसका देखना इबरत के लिए होता है। अगर तुम ऐसे हो, तो तुम बराबर इबादत की हालत में हो—

كَلَامُ الْمُؤْمِنِ حِكَمٌ وَصَمْتُهُ تَفَكُّرٌ، وَنَظَرُهُ عِبْرَةٌ إِذَا كُنْتَ كَذَلِكَ لَمْ تَزَلْ فِي الْعِبَادَة.

फिर इसके बाद उन्होंने क़ुरआन की यह आयत (52:56) पढ़ी—

وَمَا خَلَقْتُ الْجِنَّ، وَالْإِنْسَ إِلَّا لِيَعْبُدُونِ.

"मैंने जिन्न और इंसान को सिर्फ़ इसीलिए पैदा किया है कि वे मेरी इबादत करें।"

(अल-अज़मः लि अबी अश्शैख़ अल-इस्फ़हानी, जिल्द 1, सफ़हा 304)

मारिफ़त यह है कि इंसान तदब्बुर-ओ-तफ़क्कुर करके हक़ीक़त-ए-हयात को दरियाफ़्त करे। वह इस हक़ीक़त को दरियाफ़्त के दर्जे में जाने कि इस दुनिया में एक तरफ़ अल्लाह रब्बुल आलमीन है और दूसरी तरफ़ इंसान है। अल्लाह रब्बुल आलमीन हर एतिबार से कामिल है। वह ख़ल्लाक़ (The Supreme Creator) है, वह अल्लाम (The All Knowing) है, वह रज़्ज़ाक़ (The Sustainer) है। इसके बरअक्स इंसान हर एतिबार से मोहताज है। उसकी पूरी ज़िंदगी अतिया (इनायत)

है। वह देने से पाता है, न दिया जाए, तो उसे कुछ नहीं मिलेगा। इंसान के लिए मारिफ़त यह है कि वह क़ादिर-ए-मुतलक़ (All-Powerful) ख़ालिक़ को दरियाफ़्त करे। यह शऊरी दरियाफ़्त आदमी को इस क़ाबिल बनाएगी कि वह क़ादिर-ए-मुतलक़ ख़ुदा के मुक़ाबले में अपने को आजिज़-ए-मुतलक़ (All-powerless) होने की दूसरी इंतिहा पर रखे। यही इंसान का कमाल है।

जब कोई इंसान दरियाफ़्त के इस दर्जे तक पहुँचता है, तो उसके अंदर फ़ितरी तौर पर एक नई शख़्सियत उभरती है। वह इस क़ाबिल हो जाता है कि उसके अंदर एक नई रब्बानी पर्सनालिटी को डेवेलप करे। यही तरक़्क़ी-याफ़्ता इंसान आख़िरत में अहसनुल-अमल इंसान का दर्जा पाए। वह जन्नत के हुस्न-ए-रिफ़ाक़त वाले मुआशरे (सूरह अन-निसा, 4:69) में तारीख़ के चुने हुए इंसानों के साथ अबदी तौर पर रहे।

दरियाफ़्त-ए-हक़ की शर्त

क़ुरआन की सूरह नंबर 93-94 दो तौअम (twin) सूरतें हैं यानी एक ही मुश्तरक मौज़ू है, जो दोनों सूरतों में बयान हुआ है। इन सूरतों में जो पैग़ाम है, वह पूरी तरह उस वक़्त समझ में आता है, जबकि दोनों सूरतों का मुताला एक साथ किया जाए।

सूरह नंबर 93 (अज़-ज़ुहा) में पैग़ंबर-ए-इस्लाम सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम को ख़िताब करते हुए कहा गया है कि अल्लाह ने तुम्हें हक़ीक़त की तलाश में सरगर्दां पाया, तो उसने तुम्हें हिदायत दी। इसके बाद सूरह नंबर 94 (अलम नशरह) में इस मामले में मज़ीद वज़ाहत इन अलफ़ाज़ में आई है—

أَلَمْ نَشْرَحْ لَكَ صَدْرَكَ۔ وَوَضَعْنا عَنْكَ
وِزْرَكَ۔ الَّذِي أَنْقَضَ ظَهْرَكَ.

"क्या हमने तुम्हारा सीना खोल नहीं दिया और उस बोझ को तुम्हारे ऊपर से उतार दिया, जिसने तुम्हारी कमर तोड़ रखी थी?" (क़ुरआन, 94:1-3)

सूरह 'अलम नशरह' में 'कमर तोड़ देने वाले बोझ' से मुराद वही चीज़ है, जिसे सूरह अज़-ज़ुहा में 'हक़ीक़त की तलाश में सरगर्दानी' (93:7) से ताबीर किया गया है। इससे मालूम होता है कि हिदायत से पहले एक और हालत मतलूब है यानी क़ब्ल-ए-हिदायत हालत। वह यह कि आदमी पूरी तरह मुतलाशी-ए-हक़ (truth seeker) बन चुका हो। यह तलाश-ए-हक़ इतनी शदीद होनी चाहिए कि वह उसके लिए एक ऐसा ज़ेहनी बोझ बन जाए, जिसने उसके पूरे वजूद को दबा दिया हो। यह दरअस्ल संजीदा तलाश की आख़िरी हालत की तस्वीर है। जो शख़्स वाक़ई मअनों में हक़ का मुतलाशी हो, उसका हाल वही हो जाएगा, जिसकी तस्वीर क़ुरआन की इन आयात में बताई गई है।

क़ुरआन की इन आयतों में बज़ाहिर एक फ़र्द यानी पैग़ंबर-ए-इस्लाम सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम का मामला बयान हुआ है, लेकिन यह कोई इनफ़िरादी बात नहीं, बल्कि वह फ़ितरत का एक आम उसूल है। इस दुनिया में सच्चाई सिर्फ़ उस शख़्स को मिलती है, जो तलाश-ए-हक़ के मज़कूरा मरहले से गुज़रा हो। जिस शख़्स पर यह मरहला न गुज़रे, उसे सच्चाई की दरियाफ़्त भी नहीं हो सकती। इस मामले में कोई भी दूसरी चीज़ गहरी तलाश-ए-हक़ का बदल नहीं।

ख़ुदा का क़ानून

उमवी ख़लीफ़ा उमर बिन अब्दुल अज़ीज़ (वफ़ात : 101 हिजरी) को उम्मत के उलेमा ख़लीफ़ा-ए-राशिद 'ख़ामिस' का लक़ब देते हैं। उन्होंने एक सुन्नत-ए-इलाही को इन अलफ़ाज़ में बयान किया है—

إِنَّ اللهَ تبارك وتعالى لَا يُعَذِّبُ الْعَامَّةَ
بِذَنْبِ الْخَاصَّةِ، وَلَكِنْ إِذَا عُمِلَ الْمُنْكَرُ
جِهَارًا، اسْتَحَقُّوا الْعُقُوبَةَ كُلُّهُمْ.

"अल्लाह कुछ लोगों के गुनाह पर सब लोगों को अज़ाब नहीं देता, लेकिन जब गुनाह खुले तौर पर किया जाने लगे, तो सारे ही लोग सज़ा के मुस्तहिक़ हो जाते हैं।"

(मुवत्ता इमाम मालिक, 3636)

जब मुंकिर (गुनाह का फ़ेअल) खुले तौर पर होने लगे, तो यह कोई सादा बात नहीं। इसका मतलब यह है कि समाज के बाक़ी लोगों ने मुंकिर को रोकने का काम तर्क कर दिया है, वे इस मामले में बे-ताल्लुक़ (indifferent) हो गए हैं। ऐसा करने वाले लोग अल्लाह की पकड़ से बच नहीं सकते। अल्लाह के क़ानून के मुताबिक़, मुंकिर में मुब्तला अफ़राद अगर सीधे तौर पर इसमें शरीक हैं, तो दूसरे लोग बिल-वास्ता तौर पर इसमें शरीक हैं। एक गिरोह अगर अमली तौर पर (actively) जुर्म कर रहा है, तो दूसरा गिरोह ख़ामोश जुर्म के अमल में शरीक है। जुर्म करने के एतिबार से दोनों के दरमियान सिर्फ़ दर्जे का फ़र्क़ है। हक़ीक़त के एतिबार से दोनों के दरमियान कोई फ़र्क़ नहीं।

यह उसूल दरअस्ल उन लोगों की ज़िम्मेदारी को बता रहा है, जो बज़ाहिर जुर्म करने में शरीक नहीं हैं। ऐसे लोगों पर फ़र्ज़ के दर्जे में ज़रूरी

है कि वे जुर्म में मुब्तला लोगों को नसीहत करें। वे ख़ैर-ख़्वाही के अंदाज़ में लोगों को जुर्म से बाज़ रखने की कोशिश करें। वे हर असरदार तदबीर के ज़रिए इस्लाह-ए-हाल की जद्दोजहद करें। वे ऐसे लोगों की इस्लाह के लिए अल्लाह से दुआ करें। वे अपनी एकजुट कोशिश के ज़रिए ऐसे हालात पैदा करें, जो मुजरिमीन की हौसला-शिकनी करने वाले हों। इस मुस्लिहाना कोशिश को क़ुरआन-ओ-हदीस में 'अमर बिल मारूफ़' और 'नहि अनिल-मुंकर' (भलाई का हुक्म देना और बुराई से रोकना) कहा गया है। उस मुआशरे में कोई ख़ैर नहीं, जिसके अंदर 'अमर बिल मारूफ़' और 'नहि अनिल-मुंकर' का यह मुस्लिहाना अमल जारी न हो। इस अमल को आज की ज़बान में 'तन्क़ीद' (criticism) का नाम दिया जा सकता है।

मईशत-ए-ज़नक (तंगहाली की ज़िंदगी)

क़ुरआन की एक आयत है—

وَمَنْ أَعْرَضَ عَنْ ذِكْرِي فَإِنَّ لَهُ مَعِيشَةً ضَنْكًا.

"जो शख़्स मेरी नसीहत से एराज़ (मुँह मोड़ेगा) करेगा, तो उसके लिए तंगी का जीना होगा।" (क़ुरआन, 20:124)

इसमें मईशत-ए-ज़नक से मुराद ग़रीबी और मुफ़लिसी है या कोई दूसरी चीज़?

(एक क़ारी : अल-रिसाला, यूपी)

इसका मतलब यह है कि इत्मीनान-ए-क़ल्ब का ताल्लुक़ सिर्फ़ माली ख़ुशहाली से नहीं है, बल्कि इसका ताल्लुक़ मुसबत (positive) तर्ज़-ए-फ़िक्र से है। अगर आप फ़ितरत के उसूल को समझें और उसके मुताबिक़ ज़िंदगी गुज़ारें, तो आपको फ़ितरी तौर पर इत्मीनान-ए-क़ल्ब

हासिल होगा। कम या ज़्यादा, आपको दिली इत्मीनान हासिल रहेगा। आप एक हक़ीक़त-पसंद इंसान बन जाएँगे, जो कि बिला-शुब्हा इत्मीनान-ए-क़ल्ब का सबसे बड़ा ज़रिया है। यही बात एक हदीस-ए-रसूल में इस तरह कही गई है—

> "उस शख़्स के लिए ख़ुशख़बरी है, जिसे इस्लाम की हिदायत मिली और ब-क़दर-ए-ज़रूरत रोज़ी मिली और उसने क़नाअत का तरीक़ा इख़्तियार किया।"
>
> (सुनन अल-तिर्मिज़ी, हदीस नंबर 2504)

दूसरी तरफ़ तंग हालात का ताल्लुक़ मुश्किल दौलत की कमी से नहीं है, बल्कि मनफ़ी सोच (negative thinking) से है। अगर आपका तर्ज़-ए-फ़िक्र मुसबत हो, तो हर सूरत-ए-हाल में आपको इत्मीनान-ए-क़ल्ब हासिल रहेगा। तंगी और फ़राख़ी दोनों में आप मोतदिल ज़िंदगी गुज़ारेंगे। आप हर सूरत-ए-हाल को मैनेज करने का फ़न जान लेंगे। आप नॉर्मल हालत और मुश्किल हालत दोनों को आसानी से निभाने के क़ाबिल हो जाएँगे। इसके ख़िलाफ़ जो ज़िंदगी बनती है, उसी को मईशत-ए-ज़नक कहा गया है और इसके मुताबिक़ जो ज़िंदगी हो, वही फ़राख़ी वाली ज़िंदगी कही जाएगी।

मसलन— अगर कोई शख़्स अल्लाह के ज़िक्र पर क़ायम हो यानी वह यह जाने कि इंसान की पैदाइश के मामले में अल्लाह का तख़्लीक़ी नक़्शा क्या है, तो वह इस हक़ीक़त को जान लेगा कि अल्लाह का तख़्लीक़ी नक़्शा इंसानी आज़ादी के उसूल पर क़ायम है यानी आपको जिस तरह इस दुनिया में बोलने और अमल करने की आज़ादी हासिल है, उसी तरह दूसरों को भी आज़ादी हासिल है। ऐसी हालत में आप देखें कि अगर कोई शख़्स आपके नज़रिये के ख़िलाफ़ बोल रहा है, तो आपको ग़ुस्सा नहीं आएगा। आप मज़कूरा शख़्स से डिस्कशन करेंगे, न कि उसके ख़िलाफ़ मनफ़ी सोच का शिकार हो जाएँगे।

होने वाली बात

मेरी ज़िंदगी में कई हादसे हुए। इनमें से एक हादसा इतना शदीद था कि मैं कई साल तक उसके लिए ग़मगीन बना रहा। अब मैं सोचता हूँ कि मेरा ग़मगीन होना बेफ़ायदा था, क्योंकि जो होने वाला था, वही हुआ। मेरे ग़म से उसमें कोई तब्दीली नहीं हुई। इस तरह के तजुर्बात को लेकर मैं एक राय पर पहुँचा हूँ। यह राय अक़ीदे की बुनियाद पर नहीं है, बल्कि तजुर्बे की बुनियाद पर है। वह यह कि हालात की निस्बत से जो होने वाला था, आख़िरकार वही हुआ। मेरे ग़म करने से उसमें कोई तब्दीली नहीं आई। इन तजुर्बात के बाद मैं समझा हूँ कि हक़ीक़त-पसंदी की बात यह है कि इस तरह के मौक़ों पर आदमी सारे मामले को ख़ुदा पर डाल दे, क्योंकि तजुर्बा बताता है कि हमारे इख़्तियार में सिर्फ़ दुआ करना है, उसके सिवा और कुछ नहीं।

क़ुरआन की एक आयत का मतलब ग़ालिबन यही है। वह आयत यह है—

مَا أَصَابَ مِنْ مُصِيبَةٍ فِي الْأَرْضِ وَلَا فِي أَنْفُسِكُمْ إِلَّا فِي كِتَابٍ مِنْ قَبْلِ أَنْ نَبْرَأَهَا إِنَّ ذَلِكَ عَلَى اللَّهِ يَسِيرٌ ۔ لِكَيْلَا تَأْسَوْا عَلَى مَا فَاتَكُمْ وَلَا تَفْرَحُوا بِمَا آتَاكُمْ.

“कोई मुसीबत न ज़मीन में आती है और न तुम्हारी जानों में, मगर वह एक किताब में लिखी हुई है, उससे पहले कि हम उसे पैदा करें, बेशक यह अल्लाह के लिए आसान है, ताकि तुम ग़म न करो उस पर, जो तुमसे खोया गया और न उस चीज़ पर फ़ख़्र करो, जो उसने तुम्हें दिया।” (क़ुरआन, 57:22-23)

इस आयत का मतलब यह है कि दुनिया में किसी चीज़ का मिलना या किसी चीज़ का छिनना दोनों इम्तिहान (test) के लिए हैं। अल्लाह

तआला ने पेशगी तौर पर मुक़र्रर फ़रमा दिया है कि किस शख़्स को उसके इम्तिहान का परचा किन-किन सूरतों में दिया जाएगा। आदमी को असलन जिस चीज़ पर तवज्जोह देनी चाहिए, वह यह नहीं कि उसे क्या मिला और उससे क्या छीना गया, बल्कि यह कि उसने किस मौक़े पर किस क़िस्म का रद्दे-अमल पेश किया। सही और मतलूब रद्दे-अमल यह है कि आदमी से खोया जाए, तो वह दिल-बर्दाश्ता न हो और जब उसे मिले, तो वह उसकी बिना पर फ़ख़्र-ओ-ग़ुरूर में मुब्तला न हो जाए।

हुक्म अल्लाह का

इस्लाम की एक तालीम क़ुरआन में इन अलफ़ाज़ में आई है—

إِنِ الْحُكْمُ إِلَّا لِلَّهِ.

"हुक्म सिर्फ़ एक अल्लाह का है।"

(क़ुरआन, 12:40)

इस तरह की आयात में हुक्म का लफ़्ज़ सियासी हुक्म (political rule) के मअनी में नहीं है, बल्कि वह फौक़ अत-तबीई हुक्म या कायनाती हुक्म (universal rule) के मअनी में है। इसका मतलब पोलिटिकल साइंस की किताबों से नहीं मालूम होगा, बल्कि इसका मतलब क़ुरआन की आयातों में ग़ौर-ओ-फ़िक्र से मालूम होगा।

इस तरह की आयतों में हुक्म का लफ़्ज़ उस क़ानून के लिए नहीं आया है, जो असेंबली में या पार्लियामेंट में बनाया जाता है और जिसे वज़ीर-ए-क़ानून या अदालत के जज नाफ़िज़ करते हैं, बल्कि इस तरह की आयतों में हुक्म से मुराद वह बरतर हुक्म है, जो अल्लाह रब्बुल आलमीन ने बराहे-रास्त तौर पर अपने फ़रिश्तों के ज़रिये आलम-ए-वुजूद में नाफ़िज़ कर रखा है यानी यह वह हुक्म है, जिसमें तदब्बुर

करने से इंसान के अंदर शुक्र और इबादत की स्पिरिट पैदा होती है, जो आदमी को इस बात के लिए आमादा करता है कि वह इस दुनिया में शाकिर और इबादत-गुज़ार बनकर ज़िंदगी गुज़ारे। मसलन— सूरज का निकलना, ऑक्सीजन की सप्लाई का निज़ाम, बारिश का निज़ाम, ज़मीन से ग़ल्ला पैदा होना, हवाओं का चलना, ज़मीन पर क़ायम लाइफ सपोर्ट सिस्टम का निज़ाम, वग़ैरह और इस तरह की बेशुमार चीज़ें, जो इस दुनिया में इंसान को फ़ितरत के निज़ाम के तहत हासिल हैं। यह सब निज़ाम अल्लाह रब्बुल आलमीन के हुक्म के तहत वक़ू में आते हैं। इसी को सूरह 'अर-रअद' में 'तदब्बुर-ए-अमर' (13:2) कहा गया है। इस हुक्म की दरयाफ़्त का नतीजा यह होना चाहिए कि इंसान अल्लाह रब्बुल आलमीन का शुक्र अदा करे और अल्लाह को अपना माबूद समझकर सिर्फ़ उसी की इबादत करे।

अगर कोई शख़्स इस तरह की क़ुरआनी आयातों को लेकर दुनिया में सियासी तहरीक चलाए और हुक्मरानों को क़ियादत से बेदख़ल करने के लिए उनसे लड़ाई शुरू कर दे, तो यह उस हुक्म की तामील नहीं होगी, बल्कि उस हुक्म के नाम पर एक तखरीबकारी (sabotage) की सियासत चलाना होगा। यह अल्लाह के नाम पर सरकशी के अमल का इर्तिकाब होगा। क़ुरआन की इस तरह की आयतों का कोई ताल्लुक़ पोलिटिकल एक्टिविज़्म (political activism) से नहीं है, बल्कि इसका तमामतर ताल्लुक़ इससे है कि इंसान इस दुनिया में रहमान का सच्चा बंदा (अल-फ़ुरक़ान, 25:63-74) बनकर ज़िंदगी गुज़ारे।

उम्मत का इम्तिहान

पैग़ंबर-ए-इस्लाम सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम का मिशन दावत इलल्लाह का मिशन था। इस काम की मतलूब अंजामदेही के लिए

आपको यह हुक्म दिया गया कि आप हरगिज़ 'रुकून' न करें। इस सिलसिले में क़ुरआन की आयत का तर्जुमा यह है—

> "और उनकी तरफ़ न झुको (वला तरकनू) जिन्होंने ज़ुल्म किया, वरना तुम्हें आग पकड़ लेगी और अल्लाह के सिवा तुम्हारा कोई मददगार नहीं, फिर तुम कहीं मदद न पाओगे।"
>
> (क़ुरआन, 11:113)

'रुकून' के मअनी हैं— झुकाव (tilt) यानी क़ौम के तक़ाज़े, लोगों का दबाव, हालात की मस्लिहत। इस क़िस्म की मुख़्तलिफ़ चीज़ें दाई के अंदर रुकून का ज़ेहन पैदा करती हैं, लेकिन पैग़ंबर को सख़्ती के साथ हुक्म था कि वे किसी भी दबाव को क़ुबूल न करें। वे सख़्ती के साथ अल्लाह तआला के बताए हुए उसूलों पर क़ायम रहकर अपना दावती मिशन जारी रखे।

दावत के मिशन में इस्तिक़ामत का यह उसूल जिस तरह पैग़ंबर के लिए था, उसी तरह पैग़ंबर की उम्मत के लिए भी है। इस मामले में उम्मत अपने पैग़ंबर की नुमाइंदा है और नुमाइंदे को यह हक़ नहीं होता कि वह इस मामले में किसी भी दबाव को क़ुबूल करके असल मिशन में किसी क़िस्म की तब्दीली करे। अगर वह तब्दीली का इर्तिकाब करे, तो उसके लिए भी यक़ीनी तौर पर उसी पकड़ का अंदेशा है, जिसका ज़िक्र ऊपर की आयत में पैग़ंबर के लिए किया गया।

दावत इलल्लाह के काम के लिए यह लाज़िमी शर्त है। इस शर्त के बग़ैर दावत इलल्लाह का काम दुरुस्त तौर पर अंजाम नहीं दिया जा सकता और जब दावत इलल्लाह का काम दुरुस्त तौर पर अंजाम न दिया जाए, तो वह मक़सद अदा नहीं होता, जो दावत इलल्लाह का मतलूब है यानी क़ौमों पर अल्लाह की हुज्जत अदा नहीं होती (सूरह अन-निसा, 4:165)।

दावत इलल्लाह का काम एक मुख़्तलिफ़ नौइयत का काम है। इसमें दूसरे तमाम तक़ाज़ों को अलग रखना पड़ता है। मसलन— क़ौमी तक़ाज़े, माद्दी तक़ाज़े वग़ैरह। इन तक़ाज़ों से बचते हुए दावत का काम करना बिला-शुब्हा एक सख़्त काम है, लेकिन उम्मत को हर हाल में यह करना है कि वह दूसरे तमाम तक़ाज़ों का असर क़ुबूल न करते हुए इस ख़ुदाई मिशन को जारी रखे। यही उम्मत का इम्तिहान है। इस इम्तिहान में पूरा होना उम्मत-ए-मुहम्मदी को उम्मत-ए-मुहम्मदी बनाता है और अगर उम्मत इस इम्तिहान में नाकाम रहे, तो ख़ुद यह अम्र मुश्तबा हो जाएगा कि वह अल्लाह के यहाँ उम्मत-ए-मुहम्मदी की हैसियत से क़ुबूल की जाएगी या नहीं।

शहादत अलन्नास

मशहूर प्लेबैक सिंगर मुकेश चंद्र माथुर (पैदाइश : 1923) अमेरिका के एक सफ़र में थे कि 27 अगस्त, 1976 को हार्ट अटैक से अचानक इंतक़ाल कर गए। उनके हालात जो अख़बारों में आए हैं, उनमें एक बात यह भी थी कि वे उर्दू ज़बान बहुत अच्छी जानते थे। इब्तिदा में वे हिंदी से नावाक़िफ़ थे। बाद में ज़रूरत के तहत हिंदी ज़बान सीखी, क्योंकि उन्होंने अपनी ज़िंदगी में जो दस हज़ार गाने रिकॉर्ड कराए हैं, उनमें से एक तुलसीदास की रामायण भी है, जिसे उन्होंने तीन साल में मुकम्मल किया था।

1947 में हिंदुस्तान आज़ाद हुआ, तो बिरादरान-ए-वतन में इस तरह के बेशुमार लोग थे, जिन्होंने अपने स्कूलों में उर्दू पढ़ी थी। पंजाबी लोगों का सैलाब यहाँ पहुँचा, तो इस तरह के लोगों की तादाद बढ़ गई। आज़ादी के बाद तक़रीबन चौथाई सदी तक इंडिया की आम ज़बान

उर्दू ही थी। हम निहायत आसानी के साथ उर्दू के ज़रिये इन सब लोगों तक ख़ुदा का वह पैग़ाम पहुँचा सकते थे, जिसके पहुँचाने की लाज़िमी ज़िम्मेदारी ब-हैसियत-ए-उम्मत-ए-मुस्लिमा हमारे सुपुर्द की गई है।

अब ये लोग उठते जा रहे हैं और इनकी जगह दूसरी नस्ल ले रही है। दाई और मदऊ के दरमियान लिसानी (linguistic) दूरी बढ़ती जा रही है। जो काम पहले हम अपनी मादरी ज़बान में कर सकते थे, उसके लिए अब हमें दूसरी ज़बानें सीखनी हैं और उनके अंदर महारत पैदा करनी है। एक काम जो पहले आसान था, मुश्किल से मुश्किलतर होता जा रहा है।

कैसी अजीब बात है कि इसके बावजूद लोग रातों को इत्मीनान की नींद सोते हैं। शायद उन्हें याद नहीं रहा कि उन्हें मरने के बाद ख़ुदा के सामने खड़ा होना है। जब ख़ुदा पूछेगा कि तुमने हमारा पैग़ाम हमारे बंदों तक क्यों न पहुँचाया, तो हम क्या जवाब देंगे? अगर हमें 'ख़ुदा की गवाही छुपाने' का मुजरिम क़रार दे दिया जाए, तो हमारे पास इससे बचने की क्या राह होगी।

(अल-रिसाला; दिसंबर, 1976)

एहसान का मुक़ाम

एक हदीस-ए-रसूल इन अलफ़ाज़ में आई है—

عَنْ أَبِي أُمَامَةَ، عَنِ النَّبِيِّ صَلَّى الله عَلَيْهِ وَسَلَّمْ،
قَالَ:حَبِّبُوا اللهَ إِلَى عِبَادِهِ، يُحَبِّكُمُ اللهُ.

अबू उमामा रिवायत करते हैं कि नबी सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने फ़रमाया—

"अल्लाह तआला को लोगों के नज़दीक महबूब बना दो, अल्लाह तुम लोगों से मुहब्बत करेगा।"

(अल-मोजम अल-कबीर लिल तबरानी, हदीस नंबर 7461)

एक मुरसल रिवायत में यह इज़ाफ़ा है—

وَحَبِّبُوا النَّاسَ إِلَى اللهِ يُحْبِبْكُمُ اللهُ.

"और लोगों को अल्लाह के नज़दीक महबूब बनाओ, अल्लाह तुम सबसे मोहब्बत करेगा।"

(अल-औलिया इब्न अबी अल-दुन्या, हदीस नंबर 43)

लोगों की नज़र में अल्लाह को महबूब बनाना इस तरह होता है कि आप लोगों को ज़्यादा-से-ज़्यादा अल्लाह की नेमतें याद दिलाएँ, जो अल्लाह तआला ने पूरी कायनात में फैला रखी हैं। इसके मुक़ाबले में लोगों को अल्लाह की नज़र में महबूब बनाना इस तरह होता है कि आप लोगों को ज़्यादा-से-ज़्यादा अल्लाह की मारिफ़त में मशग़ूल रहने वाला बनाएँ। यही हासिल है उस आयत का, जिसमें कहा गया है कि मैंने इंसान और जिन्नात को सिर्फ़ अपनी इबादत के लिए पैदा किया है।

आयत के अलफ़ाज़ ये हैं—

وَمَا خَلَقْتُ الْجِنَّ وَالْإِنْسَ إِلَّا لِيَعْبُدُونِ.

"और मैंने जिन्न और इंसान को सिर्फ़ इसीलिए पैदा किया है कि वे मेरी इबादत करें।" (क़ुरआन, 52:56)

यही हासिल-ए-दीन है। इसी से लोगों को ख़ुदा मिलता है और लोग उस दर्जे को पहुँचते हैं, जहाँ वे हक़ीक़ी मअनों में एहसान के दर्जे में ख़ुदा को पा लें यानी वे अल्लाह की इबादत इस तरह करने वाले बन जाएँ, जैसे वे अल्लाह को देख रहे हों और अगर वे ख़ुदा को नहीं देखते हैं, तो उन्हें यक़ीन हो कि अल्लाह उन्हें देख रहा है (सहीह अल-

बुख़ारी, हदीस नंबर 50)। इस हदीस-ए-रसूल में किसी बंदे के लिए वह आला दर्जा बताया गया है, जबकि वह हक़ीक़ी मअनों में अल्लाह का इबादत-गुज़ार बन जाए। ऐसा इंसान जब तदब्बुर के साथ क़ुरआन का मुताला करता है या वह ख़ुदा का ज़िक्र करता है, तो उसे बिला-शुब्हा इन आला कैफ़ियात का तजुर्बा होता है, जैसे कि वह अल्लाह से हम-कलाम है, जैसे कि वह अल्लाह से मुलाक़ात कर रहा है।

मदऊ से शिकायत

दाई से मदऊ को शिकायत होनी चाहिए या नहीं, इस सिलसिले में क़ुरआन में नबियों के हवाले से एक बयान इन अलफ़ाज़ में आया है—

وَلَنَصْبِرَنَّ عَلَىٰ مَآ ءَاذَيْتُمُونَا.

"जो तकलीफ़ तुम हमें दोगे, हम उस पर सब्र ही करेंगे।"

(क़ुरआन, 14:12)

"We will, surely, bear with patience all the harm you do us."

इस दावती उसूल की अमली तफ़्सीर हदीस में मज़कूर एक वाक़ये से होती है। सहाबी-ए-रसूल अब्दुल्लाह बिन मसऊद कहते हैं—

كَأَنِّي أَنْظُرُ إِلَى النَّبِيِّ صلى الله عليه وسلم يَحْكِي نَبِيًّا مِنَ الأَنْبِيَاءِ ضَرَبَهُ قَوْمُهُ فَأَدْمَوْهُ، وَهْوَ يَمْسَحُ الدَّمَ عَنْ وَجْهِهِ، وَيَقُولُ : اللَّهُمَّ اغْفِرْ لِقَوْمِي فَإِنَّهُمْ لاَ يَعْلَمُونَ.

"मैं गोया नबी सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम को उस वक़्त देख रहा हूँ। आप नबियों में से एक नबी का वाक़या बयान कर रहे थे कि उनकी क़ौम ने उन्हें मारा और ख़ून-आलूदा

कर दिया। वे नबी ख़ून साफ़ करते जाते और यह दुआ करते कि ऐ अल्लाह! मेरी क़ौम की मग़फिरत फ़रमा, ये लोग जानते नहीं हैं।" (सहीह अल-बुख़ारी, हदीस नंबर 3477)

मदऊ के ख़िलाफ़ शिकायत क्यों नहीं होनी चाहिए? असल यह है कि शिकायत सादा तौर पर सिर्फ़ एक बुराई नहीं है, बल्कि बुराइयों की जड़ है। जब इंसान के अंदर शिकायत पैदा होती है, तो फिर यह होता है कि एक बुराई के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी बुराई पैदा होना शुरू हो जाती है यानी शिकायत बहुत-सी दीगर बुराइयाँ भी अपने साथ लाती है।

जब मदऊ के ख़िलाफ़ दाई के दिल में शिकायत पैदा होगी, तो नतीजे के एतिबार से वह मदऊ के ख़िलाफ़ एक से ज़्यादा बुराइयों को पैदा करने का सबब बन जाएगा और नतीजतन उसके अंदर दाईआना ज़ेहन का ख़ात्मा हो जाएगा और दावती काम भी ख़तरे में पड़ जाएगा। यही वजह है कि नबियों ने मदऊ की तरफ़ से आने वाली हर क़िस्म की परेशानियों को एकतरफ़ा सब्र और दुआ के साथ बर्दाश्त किया और दिल में शिकायत को जगह नहीं दी। मुसलमान दाई हैं, मुसलमान के लिए लाज़िम है कि वे अपने मदऊ से एकतरफ़ा हुस्न-ए-ताल्लुक़ क़ायम रखें।

माहौल का असर न लेना

क़ुरआन की सूरह 'अल-फ़तह' में असहाब-ए-रसूल के औसाफ़ बयान किए गए हैं। ये औसाफ़ असहाब-ए-रसूल के हवाले से अहले-ईमान के औसाफ़ हैं। इन औसाफ़ में से एक सिफ़त इन अलफ़ाज़ में बयान हुई है—

وَالَّذِينَ مَعَهُ أَشِدَّاءُ عَلَى الْكُفَّارِ رُحَمَاءُ بَيْنَهُمْ.

"जो लोग रसूलुल्लाह के साथ हैं, वे मुनकिरों पर सख़्त हैं और आपस में मेहरबान।" (क़ुरआन, 48:29)

इस आयत में बताया गया है कि पैग़ंबर-ए-इस्लाम के साथियों का किरदार यह है कि वे मुनकिरों पर शदीद (सख़्त) हैं और आपस में मेहरबान।

'अशिद्दाऊ अलल-कुफ़्फ़ार' अरबी ज़बान का एक उस्लूब है। इसका मतलब यह है कि ऐसा इंसान किसी का फ़िक्री असर क़ुबूल नहीं करता है। वह फ़िक्री एतिबार से निहायत मज़बूत शख़्सियत (strong personality) वाला है। वह अपने इख़्तियार-कर्दा उसूल के मामले में 'रुकून' (सूरह हूद, 11:113) का तरीक़ा इख़्तियार नहीं करता है। वह माहौल की पैदावार (product) नहीं है, बल्कि वह अपने सोचे-समझे उसूल पर क़ायम रहने वाला इंसान है। सुनी-सुनाई बातों की बुनियाद पर कोई राय क़ायम नहीं करता, बल्कि वह हमेशा वही करता है, जिसे वह हक़ के एतिबार से दुरुस्त समझता है। इस मामले में वह एक बे-लचक इंसान है। उसकी शख़्सियत हालात के दबाव के तहत नहीं बनती, बल्कि ख़ुद अपने अज़्म और अपने इरादे के तहत बनती है। वह एक ऐसा इंसान है, जो हर हाल में अपने मज़बूत किरदार पर क़ायम रहता है।

इस बात को एक और अंदाज़ से इस तरह कहा जा सकता है कि मोमिन एक साहिब-ए-मिशन इंसान होता है। ख़ुदा की किताब में तदब्बुर की बिना पर उसकी एक सोची-समझी राय होती है। यह राय उसे एक मज़बूत किरदार का आदमी बना देती है। वह हालात की पैदावार नहीं होता, बल्कि उसका मिशन यह होता है कि वह हिकमत के साथ हालात को सही रुख़ की तरफ़ मोड़ दे। उसका रवैया मफ़ाद-परस्ती का रवैया नहीं होता, बल्कि एक मुस्लेह और ख़ैर-ख़्वाह इंसान का रवैया होता है। वह अपने किरदार के एतिबार से असर डालने वाला होता है, न कि असर क़ुबूल करने वाला।

मदऊ का मुताला

एक साहब से मुलाक़ात हुई। उन्होंने कहा कि कुछ नौजवानों पर मैं दावत का काम कर रहा हूँ। मैंने महसूस किया कि ख़ुदा और आख़िरत के बारे में उनके ख़्यालात ज़्यादा वाज़ेह नहीं हैं। मैं चाहता हूँ कि उनसे मुलाक़ात करूँ और उन्हें ख़ुदा और आख़िरत के बारे में ज़्यादा मुअस्सिर अंदाज़ में समझाऊँ। अब बताइए कि मेरा अंदाज़ क्या होना चाहिए? उन्होंने कहा कि अभी तक उनसे जो मेरी बात हुई, मेरा अंदाज़ा है कि वह उनके लिए ज़्यादा मुअस्सिर साबित नहीं हुई।

मैंने कहा कि दावत का काम किसी से पूछकर नहीं किया जाता है, बल्कि ख़ुद मदऊ का मुताला करके किया जाता है। आपको यह करना चाहिए कि हमदर्दी के जज़्बे के साथ उनसे मिलें और पेशगी तौर पर कोई राय बनाए बग़ैर मदऊ की शख़्सियत को समझें। मदऊ किस तरह सोचता है? मदऊ का ज़ेहन कहाँ अटका हुआ है, तो वह किस पॉइंट पर अटका हुआ है? मदऊ का ज़ेहन अगर 'कंडिशंड ज़ेहन' (conditioned mind) है, तो वह कंडिशनिंग क्या है? इन सब बातों को जानकर यह समझने की कोशिश कीजिए कि मदऊ का केस क्या है? उसके ज़ेहन में किस रास्ते से दाख़िला मुमकिन है? इन पहलुओं को समझने के बाद मंसूबा-बंद अंदाज़ में उसे अपना मुख़ातिब बनाइए और उनसे ख़ालिस ऑब्जेक्टिव (objective) अंदाज़ में बातचीत कीजिए। फिर मुबाहसा या डिबेट के अंदाज़ से मुकम्मल तौर पर परहेज़ करते हुए ख़ालिस नासिहाना अंदाज़ में उनके सामने अपनी बात रखी जाए।

मेरा तजुर्बा यह है कि ख़ुद बात करने से पहले आपको चाहिए कि आप उन्हें इस्लामी लिटरेचर पढ़ने के लिए दें। अगर उन्होंने इस्लामी

लिटरेचर को पढ़ लिया, तो उनसे दावती गुफ़्तगू करना आसान हो जाएगा। दावती गुफ़्तगू के लिए क़ुरआन की एक आयत रहनुमा आयत की हैसियत रखती है। इसका तर्जुमा यह है—

"अपने रब के रास्ते की तरफ़ हिकमत और अच्छी नसीहत के साथ बुलाओ और उनसे अच्छे तरीके से बातचीत करो।"

(क़ुरआन, 16:125)

और दूसरी आयत का तर्जुमा यह है—

"और भलाई और बुराई दोनों बराबर नहीं; तुम जवाब में वह कहो, जो उससे बेहतर हो। फिर तुम देखोगे कि तुममें और जिसमें दुश्मनी थी, वह ऐसा हो गया, जैसे कोई दोस्त क़राबत वाला।"

(क़ुरआन, 41:34)

करने का काम

एक हदीस-ए-रसूल मुस्नद इमाम अहमद में इन अलफ़ाज़ में नक़ल की गई है—

عَنْ جَابِرِ بْنِ عَبْدِ اللهِ، قَالَ:سَمِعْتُ رَسُولَ اللهِ صَلَّى اللهُ عَلَيْهِ وَسَلَّمَ يَقُولُ:إِنَّ النَّاسَ دَخَلُوا فِي دِينِ اللهِ أَفْوَاجًا، وَسَيَخْرُجُونَ مِنْهُ أَفْوَاجًا.

"सहाबी-ए-रसूल जाबिर बिन अब्दुल्लाह ने कहा कि मैंने नबी सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम को यह कहते हुए सुना है कि लोग फ़ौज-दर-फ़ौज अल्लाह के दीन में दाख़िल हो गए और अनक़रीब इसी तरह फ़ौज-दर-फ़ौज वे इससे निकल जाएँगे।"

(मुस्नद अहमद, हदीस नंबर 14696)

एक शारेह ने इसकी तशरीह में ये अलफ़ाज़ लिखे हैं—

وَذَلِكَ فِي آخر الزَّمَان عِنْد وجود الأشراط.

“यह आख़िरी ज़माने में होगा, क़यामत की निशानियों के वजूद में आने के वक़्त।”

(अत-तयसीर बिशरह अल-जामिअ अल-सग़ीर, जिल्द 1, सफ़हा 303)

ऐसा क्यों है कि आख़िरी ज़माने में लोग दीन से निकल जाएँगे? असल यह है कि इब्तिदा-ए-इस्लाम में यह वाक़या हुआ कि लोग क़दीम रिवायती शाकिला में जीते थे, तो उन्हें दीन समझाने के लिए रिवायती उस्लूब इख़्तियार किया गया, जो उनके माइंड को एड्रेस करता था।

इसके बाद वह दौर आया, जिसे साइंसी दौर कहा जाता है। ग़ालिबन यही वह दौर है, जिसकी पेशगी इत्तिला क़ुरआन में इन अलफ़ाज़ में दी गई थी—

سَنُرِيهِمْ آيَاتِنَا فِي الْآفَاقِ وَفِي أَنْفُسِهِمْ حَتَّى يَتَبَيَّنَ لَهُمْ أَنَّهُ الْحَقّ.

“अनक़रीब हम उन्हें अपनी निशानियाँ दिखाएँगे, ख़ुद इंसान में और कायनात में। यहाँ तक कि उनपर ज़ाहिर हो जाएगा कि यह हक़ है।” (क़ुरआन, 41:53)

यह साइंसी ज़माना रिवायती दौर के बिलकुल बरअक्स था। इस दौर में साइंसी दरयाफ़्तों की वजह से इंसान की सोच मुकम्मल तौर पर तब्दील हो चुकी थी। मसलन— क़दीम दौर में तौहीद के मुक़ाबले में अंधविश्वास पर मबनी शिर्क था, अब तौहीद के मुक़ाबले में क़दीम शिर्क के बजाय जदीद इल्हाद (atheism) खड़ा था। इल्हाद बज़ाहिर साइंसी दलाइल पर मबनी इनकार-ए-ख़ुदा का नज़रिया है। इस दौर

में अहले-इस्लाम को चाहिए था कि वे इल्हाद और उसके दलाइल को समझने की कोशिश करते। साइंसी दलाइल (ब-अल्फ़ाज़-ए-दीगर आफ़ाक़ व अनफ़ुस की निशानियों) को इस्तेमाल करते हुए तौहीद की सच्चाई को साबित करते, मगर मग़रिबी क़ुव्वतों से सियासी शिकस्त ने मुसलमानों को इस क़दर मनफ़ी (negative) बना दिया था कि इस्तेमारी क़ौमों से वाबस्ता हर चीज़ ब-शुमूल (including) साइंसी उलूम और साइंसी तहज़ीब को दीन का दुश्मन समझकर पूरी शिद्दत से उसकी मुख़ालिफ़त में मशग़ूल हो गए।

हालाँकि इस वक़्त करने का काम यह था कि इल्हाद के मुक़ाबले के लिए माइंड को एड्रेस करने वाला मज़बूत लिटरेचर तैयार किया जाता, ताकि जो ज़ेहन जदीद तालीम (modern education) की वजह से मज़हब के बारे में कन्फ़्यूज़न का शिकार हो रहे हैं, वे मज़हब के हक़ में मौजूद दलाइल की बिना पर मज़हब के बारे में शऊरी तौर पर मुतमइन हो जाते; क्योंकि जहाँ बज़ाहिर कुछ दलाइल इनकार-ए-ख़ुदा के हक़ में मौजूद थे, तो उससे भी ज़्यादा मज़बूत दलाइल इस हक़ में मौजूद थे कि इस कायनात का एक ख़ुदा है, जिसने इस दुनिया को एक मक़सद के तहत पैदा किया है, लेकिन नए दौर से बे-ख़बरी की बिना पर हमारे उलमा ने इस क़िस्म के जदीद तालीम-याफ़्ता लोगों पर मुर्तद होने का फ़तवा लगा दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि जो लोग मज़हब के बारे में कनफ़्यूज़न का केस थे, वे दीन से बेज़ारी का केस बन गए। सलमान रुश्दी या दूसरे अफ़राद, जिन्हें मुसलमान मुर्तद या शातिम कहते हैं, उनका केस इसी नौइयत का है। जब मैंने तहक़ीक़ की और जदीद तालीम-याफ़्ता लोगों से मुलाक़ातें कीं, तो मालूम हुआ कि जदीद इंसान का केस ज़ेहनी इर्तिदाद (intellectual apostasy) का केस नहीं है, बल्कि वह ज़ेहनी अदम-ए-इत्मीनान (intellectual dissatisfaction) का केस है।

एक बार मेरी मुलाक़ात एक मदरसे के ज़िम्मेदार से हुई। उन्होंने सवाल किया कि मदारिस के ज़िम्मेदारान अकसर यह शिकायत करते हैं कि इन मदारिस के ज़रिए तालीम का मक़सद तो हासिल हुआ, लेकिन अफ़राद की शख़्सी तर्बियत का मक़सद बहुत कम हासिल हो सका। इसके जवाब में मैंने कहा कि इसका सबब यह है कि क़ुरआन के मुताबिक़, इंसान की शख़्सियत उसके शाकिला (17:84) के मुताबिक़ बनती है। शाकिला से मुराद ज़ेहनी साँचा (mindset) है।

हमारे मदारिस का मामला यह है कि वहाँ का पूरा माहौल क़दीम शाकिला पर मबनी होता है, जबकि मौजूदा ज़माने में हालात बिलकुल बदल चुके हैं। दीनी तालीम के निज़ाम में यही वह कमी है, जिसकी बिना पर ऐसा हो रहा है कि मज़हबी तालीम के उमूमी फैलाव के बावजूद ऐसे अफ़राद पैदा नहीं हो रहे हैं, जो जदीद मेयार पर इस्लामी ज़ेहन के हामिल हों और जदीद इंसान के सामने मुअस्सिर अंदाज़ में इस्लाम की नुमाइंदगी कर सकें। यह सूरत-ए-हाल तक़ाज़ा करती है कि मदारिस के तलबा को आज के ज़माने की ज़बान में आगाह किया जाए, ताकि वे इस क़ाबिल बन सकें कि वे जदीद ज़ेहन को एड्रेस कर सकें।

दीन को असरी उस्लूब में पेश करने का हुक्म है, मगर मुसलमान इसे सिर्फ़ पुराने ज़माने की ज़बान में पेश कर रहे हैं। इस सिलसिले में मुझे एक वाक़या याद आता है— नई दिल्ली के एक हॉल में मुसलमानों ने एक जलसा किया। इसमें मुसलमानों के एक मशहूर क़ाइद ने तक़रीर की। जलसे में हिंदू पत्रकार और दानिश्वर भी बुलाए गए थे। तक़रीर का ख़ास मौज़ू इस्लामी शरीयत था। हॉल में शाह बानो के मामले पर मुसलमानों ने जो ज़ोर-ओ-शोर दिखाया है, उसकी वजह से ग़ैर-मुसलमानों में शरीयत के बारे में उमूमी तौर पर एक तजस्सुस (curiosity) पैदा हो गया है। यह जलसा 4 मई, 1986 को हुआ। ख़ुसूसी मुक़र्रिर ने पुरजोश तक़रीर की, मगर तक़रीर में ज़्यादातर इस क़िस्म की बातें थीं कि शरीयत हमें जान से

भी ज़्यादा अज़ीज़ है। हम किसी क़ीमत पर शरीयत के अंदर मदाख़लत को बर्दाश्त नहीं कर सकते वग़ैरह।

एक हिंदू ने तक़रीर के बाद कहा कि मौजूदा दौर में इस क़िस्म की बातें क़ुबूल नहीं की जा सकतीं। अगर आप यह कहें कि हमारी शरीयत में लिखा है कि बहू को तेल छिड़ककर जला दो, तो क्या आप अपनी बहू को जला देंगे और मुल्क ख़ामोश रहेगा? आपको अपने (शरई) क़ानून का माक़ूल होना साबित करना पड़ेगा। सिर्फ़ दावा काफ़ी नहीं हो सकता।

यही मौजूदा ज़माने में हमारे तमाम लिखने और बोलने वालों का हाल है। रसूलुल्लाह की शान में गुस्ताख़ी, 'क़ुरआन की बे-हुरमती' और दीन में मदाख़लत वग़ैरह के नाम पर वे ज़बरदस्त जोश दिखाएँगे, मगर दीन अक़्ल की सतह पर साबित करने के लिए मेहनत नहीं करेंगे। हालाँकि मौजूदा ज़माना हर चीज़ को अक़्ली सतह पर समझने का ज़माना है। आज का आदमी अक़्ल की सतह पर हर चीज़ को जाँचता है।

मौजूदा दौर में मुसलमानों का हाल यह है कि वे शरीयत में मदाख़लत के नाम पर हंगामा खड़ा करते रहते हैं, मगर शरीयत को ज़माने के उस्लूब में पेश करने के लिए वे कुछ नहीं करते। हिंदुस्तान के एक मारूफ़ आलिम-ए-दीन ने एक किताब शाए की थी, उसका टाइटल था— 'रिद्दत वला अबा बक्र लहा' (दीन को छोड़ना है, लेकिन उसके मुक़ाबले के लिए कोई अबू बक्र नहीं)। इस किताब के मुसन्निफ़ ने इस नए दौर को इर्तिदाद का दौर कहा है, लेकिन मुसलमानों के लिए अमलन यह बे-ख़बरी का दौर है। इस ज़माने में मुसलमानों पर शिकायत और नफ़रत का ज़ेहन ग़ालिब है, इसलिए वे इस दौर को समझ नहीं सके।

यह साइंस का दौर है, जिसे क़ुरआन में 'आफ़ाक़-ओ-अनफ़ुस में ख़ुदाई निशानियों के ज़ुहूर का दौर' कहा गया है (41:53)। ये साइंसी

दरियाफ़्तें अपनी हक़ीक़त के एतिबार से किताब-ए-इलाही में मज़कूर कायनाती इशारों की तफ़्सील हैं और उसी के साथ उसकी दलील भी, मगर बे-ख़बरी की बिना पर पूरी मुस्लिम कम्युनिटी इस दौर को मुख़ालिफ़-ए-इस्लाम दौर समझकर इसमें पैदाशुदा मौक़ों को अवेल करने से महरूम होकर रह गई। हालाँकि यह दीन की साइंसी तशरीह का दौर है।

मज़मून के इब्तिदा में मज़कूर हदीस को जब क़ुरआन की इस आयत के साथ मिलाकर समझा जाए, तो इससे गोया यह मालूम होता है कि इब्तिदा-ए-इस्लाम में शिर्क का मुक़ाबला करने के लिए रिवायती उस्लूब में इस्लाम की सचाई को लोगों के सामने पेश किया गया, जिससे लोग फ़ौज-दर-फ़ौज इस्लाम की तरफ़ आए। यही तरीक़ा ख़ुदा के इनकार के मुक़ाबले के लिए इख़्तियार किया जाना चाहिए यानी मौजूदा ज़माने की मानी हुई समझ और इल्म की बुनियाद पर इस्लाम की सच्चाई को समझाकर पेश करना। ऐसा हरगिज़ नहीं होना चाहिए कि फ़तवे का तरीक़ा अपनाकर लोगों को दीन से मज़ीद दूर कर दिया जाए।

मैंने गहरे मुताले के बाद इस दौर को पहचाना और इस ताल्लुक़ से बड़े पैमाने पर असरी उस्लूब में जदीद माइंड को एड्रेस करने वाला लिटरेचर तैयार किया है। 1976 से 'अल-रिसाला मिशन' के तहत मुनज़्ज़म तौर पर इस नहज पर काम शुरू किया गया था। अब 'सी०पी०एस० इंटरनेशनल' के तहत इस काम को आगे बढ़ाया जा रहा है। इस लिटरेचर को मिशन से वाबस्ता लोग उर्दू, हिंदी, इंग्लिश और दूसरी ज़बानों में छापकर वसीअ पैमाने पर फैला रहे हैं और अब अल्लाह के फ़ज़ल से हर जगह इसके मुस्बत असरात सामने आ रहे हैं।

दौर-ए-अम्न की तरफ़

क़ुरआन में असहाब-ए-रसूल को एक हुक्म इन अलफ़ाज़ में दिया गया था—

وَقَاتِلُوهُمْ حَتَّى لَا تَكُونَ فِتْنَةٌ وَيَكُونَ الدِّينُ كُلُّهُ لِلَّهِ.

"उनसे जंग करो, यहाँ तक कि फ़ितना बाक़ी न रहे और दीन सब अल्लाह का हो जाए।" (क़ुरआन, 8:39)

क़ुरआन की इस आयत के दो हिस्से हैं। पहले हिस्से में कहा गया है कि 'जंग करो, यहाँ तक कि फ़ितना बाक़ी न रहे' और दूसरे हिस्से के अलफ़ाज़ ये हैं कि 'दीन सब अल्लाह का हो जाए'। इससे मालूम हुआ कि पहले मतलूब के लिए लड़ना होगा और उसके बाद दूसरा मतलूब अपने आप हासिल हो जाएगा।

ग़ौर करने से मालूम होता है कि इब्तिदाई तख़्लीक़ के मुताबिक़ इंसानी दुनिया में हालते-फ़ितरी क़ायम थी और हालते-फ़ितरी अम्न की हालत है। बाद में दुनिया में तानाशाह बादशाहों (despotic kings) का ज़माना आया। उन्होंने यह किया कि हालते-फ़ितरी को ख़त्म करके उसकी जगह ग़ैर-फ़ितरी हालत क़ायम कर दी यानी जाबिराना और तशद्दुद (ज़ुल्म) की हालत। यह हालत अल्लाह को मंज़ूर न थी। अल्लाह ने असहाब-ए-रसूल को हुक्म दिया कि जिन लोगों ने इंसानी दुनिया में ख़ुद-साख़्ता तौर पर जब्र-ओ-तशद्दुद की हालत क़ायम कर रखी है, उसे ब-ज़ोर ख़त्म कर दो, ताकि दोबारा इंसानी दुनिया में हालते-फ़ितरी क़ायम हो जाए।

क़दीम ज़माने में मज़हबी तशद्दुद (religious persecution) इसी जबर की बिना पर क़ायम था। असहाब-ए-रसूल ने अपने ज़माने के बादशाहों से जंग की। इसका नतीजा यह हुआ कि दुनिया में एक

नया दौर आ गया यानी जंग के दौर के बजाय अम्न का दौर। इतिहास में कोई बड़ा वाक़या अचानक नहीं होता, बल्कि वह तारीख़ी अमल (historical process) की सूरत में इब्तिदाई हालत से शुरू होकर तकमील की हालत तक पहुँचता है। तारीख़ में इस दौर-ए-अम्न का आग़ाज़ अहले-इस्लाम ने किया था। बाद के ज़माने में आज़ादी और जम्हूरियत (freedom and democracy) का जो दौर आया, वह इसी आग़ाज़ की इंतिहा (culmination) है।

इक्कीसवीं सदी में अब हम उसी दौर-ए-अम्न में जी रहे हैं। अब क़ुरआन के अलफ़ाज़ में 'दीन सब-का-सब अल्लाह के लिए हो चुका है' यानी यह मुमकिन हो गया है कि पुर-अम्न तरीक़-ए-कार (peaceful method) को इस्तेमाल करते हुए हर मक़सद को नॉर्मल तरीक़े से हासिल कर लिया जाए।

इस्लाम एक मिशन है, तौहीद का मिशन। क़दीम ज़माने में इस मिशन को जारी करने के लिए सख़्त रुकावटें पेश आई थीं। अब यह मुमकिन हो गया है कि रुकावटों के बग़ैर इस्लाम के मिशन को जारी किया जाए। मौजूदा ज़माने में जो लोग इस्लाम का नाम लेते हैं और उसी के साथ जंग और तशद्दुद का तरीक़ा इख़्तियार करते हैं, वे अपने इस अमल से यह सबूत दे रहे हैं कि मॉडर्न ज़माने से पूरी तरह बे-ख़बर (unaware) हैं। उनका केस जिहाद का केस नहीं है, बल्कि बे-ख़बरी (unawareness) का केस है।

नई मंसूबा-बंदी

री-प्लानिंग (re-planning) का मतलब यह है कि पिछले मंसूबे में तजुर्बात का इज़ाफ़ा करना और नई मालूमात की रौशनी में नए सिरे अपने अमल का नक़्शा बनाना। इसका मक़सद यह होता है कि

पहले मंसूबे में जो मक़सद हासिल न हुआ हो, उस मक़सद को दोबारा बेहतर अंदाज़ में मुनज़्ज़म करके बिलकुल नए सिरे से हासिल करने की कोशिश की जाए।

री-प्लानिंग हमेशा एकतरफ़ा बुनियाद (unilateral base) पर की जाती है। इसलिए री-प्लानिंग अमलन एक क़ुर्बानी (sacrifice) का अमल बन जाता है। री-प्लानिंग के लिए इंसान को यह करना पड़ता है कि वह रद्दे-अमल (reaction) से अपने आपको बचाए। वह किसी चीज़ को वक़ार (prestige) का मसला न बनाए। वह पीछे हटने को उसी तरह क़ुबूल करे, जिस तरह उसने इक़दाम को क़ुबूल किया था। वह कामिल तौर पर बे-लाग अंदाज़ में सोचे और हक़ीक़त-ए-वाक़या की बुनियाद पर एक फ़ैसला ले। वह हार और जीत की नफ़्सियात से ऊपर उठकर अपनी राह-ए-अमल मुतय्यन करे।

पैग़ंबर-ए-इस्लाम के ज़माने में हुदैबिया का मुआहिदा इसी क़िस्म की एक री-प्लानिंग थी, मगर मुसलमान बाद के ज़माने में उस्वा-ए-रसूल के इस पहलू को भूल गए। हुदैबिया में अमन क़ायम करने के लिए मुख़ालिफ़ीन की शर्तों को एकतरफ़ा तौर पर मान लेना ब-एतिबार-ए-हक़ीक़त उन्हें अपने काम को आगे बढाने के लिए न्यूट्रल (neutral) करने की एक तदबीर थी। यह तदबीर असरदार साबित हुई। चुनाँचे इसके बाद बहुत कम मुद्दत में पूरा अरब एक ग़ैर-ख़ूनी इंक़लाब (bloodless revolution) के ज़रिए इस्लाम के ज़ेरे-साया आ गया।

मज्मूआ-ए-अल्फ़ाज़

कुछ मज़ामीन ऐसे होते हैं, जो मज्मूआ-ए-अलफ़ाज़ तो होते हैं, मगर वे मज्मूआ-ए-मआनी नहीं होते। मज़मून लिखने का सही तरीक़ा यह है कि आदमी पहले ग़ौर-ओ-फ़िक्र करके एक बा-मअनी तसव्वुर अपने

ज़ेहन में क़ायम करे। फिर उसे बा-मअनी अलफ़ाज़ में लिखे। ऐसा मज़मून सिर्फ़ उस वक़्त आदमी लिख सकता है, जबकि वह जितना वक़्त लिखने में लगाए, उससे ज़्यादा वक़्त वह इस सिलसिले में सोचने में लगाए। वह अपनी बातों को पहले सोचकर हज़्म करे और उसके बाद वह अलफ़ाज़ की सूरत में उसे बयान करे। ऐसा मज़मून ग़ौर-ओ-फ़िक्र के नतीजे में वजूद में आता है। इंसान को जो टेक अवे (takeaway) मिलता है, वह इसी क़िस्म के मज़मून से मिलता है। बोलने या लिखने में क्लैरिटी (clarity) उस वक़्त आती है, जबकि आदमी मुकम्मल तौर पर ग़ौर-ओ-फ़िक्र से काम ले।

एक हदीस-ए-रसूल है—

مَنْ صَمَتَ نَجَا.

"जो ख़ामोश रहा, वह निजात पा गया।"

(मुस्नद अहमद, हदीस नंबर 6481)

इसका मतलब यह है कि जो ख़ामोश रहा, उसने गहराई के साथ सोचा और जिसने गहराई के साथ सोचा, वह कामयाब हुआ।

मैंने एक तजुर्बा बार-बार किया है। कुछ लोग बड़े-बड़े इज्तेमाआत में जाते हैं। फिर जब वे वापस आते हैं और उनसे पूछा जाता है कि इज्तिमे में शिरकत से आपको क्या मिला? आपका टेक अवे क्या था? तब वे कोई ख़ास बात बता नहीं पाते। उमूमी अंदाज़ में वे इज्तिमे की बात बता सकते हैं, लेकिन जब मुतअय्यन अंदाज़ में पूछा जाए, तो उनके पास बताने के लिए कुछ नहीं होता। इस तरह की मिसाल से अंदाज़ा होता है कि उन्हें कुछ नहीं मिला। कोई क़ाबिल-ए-ज़िक्र बात उन्हें इस क़िस्म की शिरकत से नहीं मिली। कोई विज़डम की बात उन्होंने नहीं पाई।

बा-मअनी तक़रीर वह है, जिसे सुनकर आपके ज़ेहन में कुछ नए ख़्यालात पैदा हों। आपके दिमाग़ में कोई हरकत पैदा हो। आपको कुछ

नए आइडियाज़ (ideas) सोचने को मिलें। जब ऐसा न हो, तो समझ लीजिए कि बोलने वाले ने आपको अलफ़ाज़ तो दिए, लेकिन कोई बा-मअनी (meaningful) बात वह आपको न दे सका।

शख़्सियत का डेवलपमेंट

कोई शख़्स अगर अपने अमल का एक निशाना बनाए। फिर वह उसके लिए अमल करना शुरू कर दे और वह अपने निशाना को पाने में कामयाब हो जाए, तो यह ये एक कामयाबी है; मगर वह एक छोटी कामयाबी है। इसके बरअक्स अगर आदमी अपने निशाना को पाने में कामयाब न रहे, तो यह उसके लिए ज़्यादा बड़ी कामयाबी का ज़ीना बन सकता है।

वह इस तरह कि आदमी अगर अपने निशाने को पाने में कामयाब हो जाए, तो इसका मतलब यह है कि उसकी इंतिहा (saturation point) आ गई है यानी वह अपने तरक़्क़ी के सफ़र के ख़ात्मे तक पहुँच चुका है। इसके बरअक्स अगर वह अपने निशाने को पाने में नाकाम रहे, तो उसका सफ़र रुकेगा नहीं। उसका ज़ेहन अपने लिए नए मौक़े की तलाश में लगा रहेगा। इस तरह बज़ाहिर नाकाम होने के बावजूद उसका अमल बराबर जारी रहेगा। वह एक के बाद एक नई मंज़िल को पाता रहेगा, यहाँ तक कि वह अपने मुक़र्रर निशाने (targeted goal) तक पहुँच जाएगा।

आदमी अगर अपने मुक़र्रर निशाने तक पहुँच जाए, तो उसके बाद यह होता है कि उसके ज़ेहन में सरगर्मी का प्रोसेस रुक जाता है। शऊरी या ग़ैर-शऊरी तौर पर वह समझ लेता है कि मुझे जो कुछ पाना था, मैंने पा लिया; लेकिन अगर आदमी मुक़र्रर निशाने को पाने में नाकाम

रहे, तो उसके अंदर ज़ेहनी सरगर्मी (intellectual development) का प्रोसेस बराबर जारी रहेगा। पहले अगर वह सिर्फ़ चल रहा था, तो अब वह जंप (jump) करना शुरू कर देगा। उसके नतीजे में फ़ितरी तौर पर ऐसा होगा कि एक के बाद एक उसके ज़ेहन की तमाम खिड़कियाँ खुल जाएँगी। उसकी शख़्सियत का कोई गोशा ऐसा न रहेगा, जो बंद पड़ा रहे। पहले अगर वह 'मैन' (man) था, तो अब वह 'सुपर मैन' (superman) बन जाएगा। पहले अगर वह 'ज़ीरो' था, तो अब वह 'हीरो' बन जाएगा। इस तरह फ़ितरी अमल के नतीजे में ऐसा होता है कि आदमी के लिए नाकामी का तजुर्बा पहले से भी ज़्यादा बड़ी कामयाबी का ज़रिया बन जाता है।

मनफ़ी सोच का तूफ़ान

आजकल मुसलमानों के जिस अख़बार या मैगज़ीन को पढ़ा जाए, उसमें सिर्फ़ एक ही बात की चर्चा मिलेगी और वह है— 'मुख़ालिफ़ीन-ए-इस्लाम' की चर्चा। इस तरह की चीज़ें सुनने और पढ़ने से यह तास्सुर बनता है कि इस्लाम सारी दुनिया में दुश्मनों से घिरा हुआ है। चुनाँचे कहा जाता है कि इस्लाम ख़तरे में है। इस सूरत-ए-हाल के लिए मौजूदा ज़माने में एक इस्तिलाह बन गई है, जिसे आम तौर पर 'इस्लामोफोबिया' (Islamophobia) कहा जाता है वग़ैरह। यह मफ़रूज़ा सोच बिला-शुब्हा अपनी हक़ीक़त के एतिबार से बेबुनियाद है।

मुताला से पता चलता है कि दुनिया के ख़ालिक़ ने दुनिया को चैलेंज के उसूल पर बनाया है, इसलिए ज़रूरी है कि यहाँ हमेशा चैलेंज और मुसाबक़त की सूरत-ए-हाल बाक़ी रहे। यह सूरत-ए-हाल क़ानून-ए-फ़ितरत की बिना पर है, न कि किसी की दुश्मनी या साज़िश की

बिना पर। इसलिए यह सूरत-ए-हाल हमेशा जारी रहेगी। हमारा कोई भी शोर-ओ-ग़ुल इस सूरत-ए-हाल को ख़त्म करने वाला नहीं।

इसके मुक़ाबले में हमें यह करना पड़ेगा कि हम सूरत-ए-हाल का गहरा मुताला करें और उससे मुक़ाबले के लिए पुर-अम्न मंसूबा बनाएँ। इस मामले में कोई दूसरा ऑप्शन हमारे लिए नहीं। तारीख़ बताती है कि हमारी तमाम शोर-शराबे के बावजूद यह सूरत-ए-हाल बदस्तूर क़ायम है और यक़ीन के साथ कहा जा सकता है कि आइंदा भी वह बदस्तूर जारी रहेगी।

ऐसी सूरत में हमारे लिए वह ऑप्शन नहीं है कि हम मफ़रूज़ा साज़िश के ख़िलाफ़ शोर-शराबे की बे-नतीजा सियासत को जारी रखें। हमें लाज़िमी तौर पर यह करना होगा कि अपने वक़्त को मज़ीद इस क़िस्म की बे-फ़ायदा सियासत में ज़ाया न करें, बल्कि इसके बजाय ख़ालिस बेलाग अंदाज़ में सूरत-ए-हाल का मुताला करें और अपने ज़वाल के ख़ात्मे के लिए ग़ैर-जज़्बाती अंदाज़ में पुर-अम्न मंसूबा बनाएँ। मिसाल के तौर पर हमें यह करना है कि टकराव की सियासत को मुकम्मल तौर पर ख़त्म कर दें और पुर-अम्न अंदाज़ में तालीम व तरक़्क़ी का मंसूबा बनाएँ। यह एक वाक़या है कि मुसलमान मौजूदा दौर में तरक़्क़ी की दौड़ में पीछे हो गए।

अब मुसलमानों को यह करना है कि वे हक़ीक़त-पसंदाना अंदाज़ में इस सूरत-ए-हाल का जायज़ा लें और अपनी पसमांदगी (backwardness)) को दूर करने के लिए जदीद मेयार पर मंसूबा बनाएँ। मसलन— तालीम के मैदान में रिज़र्वेशन की माँग की सियासत को मुकम्मल तौर पर तर्क कर दें और अपने नौजवानों से यह कहें कि तुम्हें कंपटीशन के मैदान में आगे बढ़ना है, रिज़र्वेशन की माँग से तुम्हें कुछ मिलने वाला नहीं।

तब्दीलियों की हक़ीक़त

बंबई को 'गेटवे ऑफ़ इंडिया' कहा जाता है। इसकी अलामत के तौर पर वहाँ समंदर के किनारे इस नाम का एक गेट बनाया गया है। यह उस ज़माने की यादगार है, जबकि समंदर के रास्ते से हिंदुस्तान आने वाले लोग बंबई के बंदरगाह पर उतरकर हिंदुस्तान में दाख़िल होते थे, मगर अब सफ़री हालात बदल चुके हैं। अब हिंदुस्तान का दरवाज़ा बंबई का समंदरी बंदरगाह नहीं, बल्कि दिल्ली का अंतरराष्ट्रीय हवाई अड्डा है। अब बंदरगाहों के बजाय हवाई अड्डों के ज़रिए एक मुल्क के लोग दूसरे मुल्क में दाख़िल होते हैं। ताहम यह फ़र्क़ तरीक़-ए-दाख़िला का फ़र्क़ है, न कि उसूल-ए-दाख़िला का। इससे दूसरे मुल्क के शहरियों के हिंदुस्तान में दाख़िल होने के क़वानीन पर कोई असर नहीं पड़ता।

यह एक मिसाल है, जिससे उन तब्दीलियों की हक़ीक़त समझी जा सकती है, जिसके हवाले से मज़हब में तब्दीली का मुतालबा किया जाता है। बिला-शुब्हा दुनिया में बहुत-सी तब्दीलियाँ हुई हैं और यह भी एक वाक़या है कि ये तब्दीलियाँ मज़हब और समाज के दरमियान फिर से मुताबक़त का तक़ाज़ा करती हैं, मगर यह सिर्फ़ मौजूदा हालात पर मज़हब के उसूलों के नए सिरे से अप्लाई करने (re-application) का सवाल है, न कि ख़ुद मज़हब को बदलकर नया मज़हब बनाने का। क़दीम ज़माने में जानवर सवारी का काम देते थे। आज सफ़र के लिए मशीनों वाली सवारियाँ इस्तेमाल होती हैं, मगर इसका मतलब यह नहीं कि एक मुसाफ़िर पूरब की सिम्त के एक मुक़ाम पर पहुँचने के लिए पहले पूरब जाता था, अब वह उसके लिए पश्चिम की तरफ़ दौड़ने लगेगा। (अल-रिसाला; मई, 1978)

मैं ग़लती पर था

‘मैं ग़लती पर था’ (I was wrong) कहना कोई सादा बात नहीं। ग़लती का एतिराफ़ इस्लाह का आग़ाज़ है। अगर आप कोई ग़लती करें, तो उसके बाद आपको सबसे पहले यह बोलना पड़ेगा कि ‘मैं ग़लती पर था, अब मैं इससे रुजू करता हूँ’। ऐलान के बग़ैर सिर्फ़ अपने अमल को बदल लेना यह कुछ भी नहीं है। सिर्फ़ ग़लती का एहसास काफ़ी नहीं है, बल्कि यह भी ज़रूरी है कि आप बोलें कि ‘मैं ग़लती पर था’।

अगर अपनी ग़लती का एतिराफ़ बोलकर करें, तो आपके अंदर एक इस्लाह का प्रॉसेस जारी हो जाएगा और अगर ऐसा न करें, तो आप बदस्तूर जहाँ थे, वहीं बाक़ी रहेंगे। ग़लती का ऐलान दरअस्ल अपनी इस्लाह का आग़ाज़ है, बशर्ते कि आप इस मामले में पूरी तरह संजीदा हों यानी आप सिर्फ़ लिप सर्विस के तौर पर अपनी ग़लती का ऐलान करते रहें, लेकिन उसके मुताबिक़ अमल का आग़ाज़ न करें, तो ऐसे क़ौल बिला फ़ेअल का कोई फ़ायदा नहीं। हर इस्लाह के लिए संजीदगी शर्त है।

इंसानी ज़िंदगी में किसी बड़े इंक़लाब का आग़ाज़ उस वक़्त होता है, जबकि इंसान के अंदर कोई ‘ब्रेक थ्रू’ (breakthrough) का वाक़या पेश आए। कोई ऐसा वाक़या, जो इंसान के अंदर वह नफ़्सियाती भूचाल पैदा करे, जिसे ‘ब्रेन स्टॉर्मिंग’ (brainstorming) कहा जाता है। ऐसा वाक़या, जो इंसान की पूरी शख़्सियत को हिला दे।

असल यह है कि आम हालत में इंसान के ज़ेहन की तमाम खिड़कियाँ बंद रहती हैं। इस बिना पर उसकी तमाम सलाहियतें बिल-क़ुव्वत (potential) हालत में पड़ी रहती हैं, उन्हें बिल-फ़ेअल

(actual) बनाने के लिए एक इंक़लाबी हरकत दरकार है। इस इंक़लाबी हरकत का नुक़्ता-ए-आग़ाज़ सिर्फ़ एक है और वह है एतिराफ़-ए-ख़ता यानी यह कह सकने की हिम्मत कि मैं ग़लती पर था—

I was wrong.

यह एतिराफ़-ए-ख़ता जितना ज़्यादा शदीद होगा, उतना ही ज़्यादा बड़ा इंक़लाब आदमी की शख़्सियत में आएगा। इस एतिराफ़-ए-ख़ता के आला दर्जे को क़ुरआन में तौबा-ए-नसूह (66:8) कहा गया है।

इस्लाह का तरीक़ा

सीरत-ए-रसूल के मुताले से पता चलता है कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने अरबों की इस्लाह के लिए जो तरीक़ा इख़्तियार किया, वह यह था कि आपने पहले फ़िक्री मुहिम के ज़रिए उनके ज़ेहन को बदला। जैसा कि हज़रत आइशा रज़ियल्लाहु अन्हा के बयान से मालूम होता है। वे कहती हैं कि क़ुरआन में सबसे पहले ऐसी सूरतें नाज़िल हुईं, जिनमें जन्नत और जहन्नम का ज़िक्र था यानी उन हक़ाइक़ का बयान, जिनसे फ़िक्र में तब्दीली पैदा होती है, यहाँ तक कि जब लोग इस्लाम की तरफ़ माइल हो गए (حَتَّى إِذَا ثَابَ النَّاسُ إِلَى الْإِسْلَامِ), तब हराम और हलाल के अहकाम उतरे। बरअक्स तौर पर अगर पहले ही यह नाज़िल हो, ताकि तुम लोग शराब न पियो या ज़िना न करो, तो वह ज़बानी या अमली तौर पर ज़रूर यह कहते कि हम ये सब काम नहीं छोड़ेंगे (सहीह अल-बुख़ारी, हदीस नंबर 4993)।

अरब अगरचे यह दावा करते थे कि वे हज़रत इब्राहीम के दीन पर हैं, मगर तवील अर्सा गुज़र जाने की वजह से वे अपनी बिगड़ी हुई

समाजी रिवायत में कंडिशंड हो चुके थे। उन्हें डी-कंडिशंड करना उसी वक़्त मुमकिन था, जबकि उनके एक-एक फ़र्द में तब्दीली लाई जाती। रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने इसी तरीक़े को अपनाकर अरब की सरज़मीन को 'हीरोज़ की नर्सरी' में तब्दील कर दिया। इस उसूल को आपने इस तरह बयान किया है:

إِنَّمَا الْأَعْمَالُ بِالنِّيَّاتِ وَإِنَّمَا لِكُلِّ امْرِئٍ مَا نَوَى.

"अमल की बुनियाद नीयत पर है और किसी इंसान से वही आमाल ज़ाहिर होते हैं, जैसी वह नीयत करता है।"

(सहीह अल-बुख़ारी, हदीस नंबर 1)

(नीयत यानी सोच व इरादा)। इस इंक़लाबी तब्दीली की वजह बयान करते हुए मौलाना वहीदुद्दीन ख़ान साहब ने अपने एक सफ़रनामा में जो लिखा है, उसका ख़ुलासा यह है—

"पहली वह्य के तौर पर क़ुरआन में 'इक़रा' का हुक्म आना इस बात का सुबूत है कि यह ख़ुदाई कलाम है। जब आपकी नबुव्वत का आग़ाज़ हुआ, उस वक़्त अरब में बहुत-से मसाइल थे। मसलन—काबा में 360 बुत, रोमियों और ईरानियों की अरब इलाक़ों में सियासी दख़ल-अंदाज़ी, समाज में मुख़्तलिफ़ क़िस्म के जराइम, ग़ुरबत और पानी की क़िल्लत वग़ैरह, मगर क़ुरआन में जो पहली आयत उतरी, उसमें इन मसाइल का ज़िक्र नहीं था। इससे मालूम होता है कि मसाइल ख़्वाह कितने ही ज़्यादा हों, उन्हें नज़र-अंदाज़ करते हुए हमें अपने अमल का आग़ाज़ हमेशा इल्म और शऊर की बेदारी से करना चाहिए। यह निहायत अहम ख़ुदाई उसूल है। आज भी समाज की इस्लाह के लिए यही तरीक़ा कारगर है। मौलाना फ़रहाद अहमद

ख़ुशी का राज़

ख़ुशी (happiness) का राज़ क्या है? इस सिलसिले में मुख़्तलिफ़ रायें हैं। एक आईएएस अफ़सर मिस्टर ओनिश सरन (@AwanishSharan) ने 21 मई, 2022 को 'X' (पूर्व में ट्विटर) पर एक हक़ीक़ी वीडियो शेयर किया, जिससे ख़ुशी के राज़ को समझा जा सकता है। इस ख़बर को 'हिंदुस्तान टाइम्स' ने भी अपनी वेबसाइट पर 22 मई, 2022 को इस उनवान के तहत शाए किया है—

"सेकंड हैंड साइकिल ख़रीदने के बाद बाप और बेटे का इज़हार-ए-ख़ुशी आपके दिल को मुसर्रत और रहम के जज़्बे से भर देगा।"

"Man, and his son's reaction on buying a second-hand bicycle will melt your heart."

वीडियो में यह दिखाया जा रहा है कि एक ग़रीब आदमी सेकंड हैंड साइकिल ख़रीदकर अपनी छोटी-सी झोंपड़ी के पास लाता है और ख़ुशी-ख़ुशी उसकी आरती उतारता है और उसका कम-उम्र बेटा भी ख़ुशी से उछलता और नाचता हुआ दिखाई दे रहा है।

मिस्टर ओनिश सरन ने इस वीडियो के लिए यह बा-मअनी कैप्शन दिया है—

"यह सिर्फ़ एक सेकंड हैंड साइकिल है, मगर उनके चेहरे की ख़ुशी को देखिए गोया उन्होंने मर्सिडीज़ बेंज़ ख़रीद ली हो।"

"It's just a second-hand bicycle. Look at the joy on their faces. Their expression says, they have bought a New Mercedes Benz."

इस ख़ुशी का राज़ क्या है? इस वीडियो पर 'विनीत सूद' (@VineetSood15) नामी एक साहब ने बा-मअनी कैप्शन लिखा है—

"यहाँ असल चीज़ साइकिल या कार नहीं, बल्कि वह कितना ज़्यादा क़नाअत (satisfaction) का जज़्बा रखते हैं। ज़िंदगी बहुत आसान है, हम इंसान माद्दी हिर्स के ज़रिए अपनी ज़िंदगी को मुश्किल बना देते हैं।"

"The Issue is not a cycle or a car, but how contended they are. Life is very simple, but we burden it with material desires."

क़नाअत सादा अमल नहीं। हिर्स (लालच) ख़ुशी का क़ातिल है और क़नाअत ख़ुशी का दरवाज़ा। इस सिलसिले में मौलाना वहीदुद्दीन ख़ान के अलफ़ाज़ क़ाबिले-ग़ौर हैं—

"क़नाअत का जज़्बा आदमी के अंदर यह नफ़्सियात पैदा करता है कि वह एक पाया हुआ इंसान है और जो आदमी अपने आपको पाया हुआ इंसान समझे, वह कभी झुँझलाहट और मनफ़ी सोच का शिकार नहीं हो सकता।"

(माख़ूज़— अल-रिसाला; जून, 2016; डॉ. फ़रीदा ख़ानम)

मुताला-ए-हदीस

शरह मिश्कात अल-मसाबीह (हदीस नंबर 152-157)

अब्दुल्लाह बिन अम्र रज़ियल्लाहु अन्हु कहते हैं कि मैं एक दिन दोपहर के वक़्त रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम के पास आया। रावी कहते हैं कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने दो आदमियों

की आवाजें सुनीं, जो क़ुरआन की एक आयत में इख़्तिलाफ़ कर रहे थे। रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम हमारे पास आए। आपके चेहरे पर ग़ुस्से के आसार थे। आपने फ़रमाया कि तुमसे पहले जो लोग हलाक हुए, वे इसीलिए हलाक हुए कि उन्होंने ख़ुदा की किताब में इख़्तिलाफ़ किया। (सहीह मुस्लिम, हदीस नंबर 2666)

तशरीह : मुस्नद अहमद की रिवायत (नंबर 3724) में है कि एक मर्तबा दो असहाब-ए-रसूल क़ुरआन की किसी आयत को लेकर इख़्तिलाफ़ करने लगे, तो आपने इसे नापसंद किया और कहा कि तुम दोनों ठीक पढ़ रहे हो, आपस में इख़्तिलाफ़ न करो। (كِلَاكُمَا مُحْسِنٌ فَلَا تَخْتَلِفُوا) अस्ल यह है कि मौजूदा दुनिया का निज़ाम ख़ुदा ने इस तरह बनाया है कि यहाँ लाज़िमन एक और दूसरे के दरमियान इख़्तिलाफ़ात पैदा हों। एक और दूसरे के दरमियान मुख़्तलिफ़ एतिबार से इतना ज़्यादा फ़र्क़ पाया जाता है कि हर इंसान को 'मिस्टर डिफरेंस' कहना सही होगा। इस दुनिया में हर समाज फ़र्क़ और इख़्तिलाफ़ वाला समाज है। यह फ़र्क़ और इख़्तिलाफ़ चूँकि ख़ुद फ़ितरत का एक लाज़िमी हिस्सा है, इसलिए इसे ख़त्म करना मुमकिन नहीं। ऐसी हालत में क़ाबिले-अमल सूरत सिर्फ़ यह है कि फ़र्क़ के साथ निभाने का उसूल इख़्तियार किया जाए, न कि फ़र्क़ को मिटाने का। फ़ितरत के इस उसूल का ताल्लुक़ मज़हबी मामले से भी है और सेक्युलर मामले से भी। इस दुनिया में कोई भी निज़ाम, मज़हबी हो या ग़ैर-मज़हबी, कामयाब तौर पर वही लोग बना सकते हैं, जो डिफरेंस मैनेजमेंट का आर्ट जानते हों। फ़र्क़ और इख़्तिलाफ़ को मिटाना नज़ा पैदा करता है और फ़र्क़ और इख़्तिलाफ़ को मैनेज करना अम्न व हम-आहंगी का सबब बनता है।

अल्लाह तआला को इंसान से क़ुरआन में तदब्बुर (ग़ौर-ओ-फ़िक्र) मतलूब है (38:29), क़ुरआन में इख़्तिलाफ़ मतलूब नहीं। तदब्बुर यह

है कि इस्तिफ़ादे की नियत से क़ुरआन की आयतों में ग़ौर-ओ-फ़िक्र किया जाए। इसके बरअक्स इख़्तिलाफ़ यह है कि क़ुरआन की आयतों में ग़ैर-ज़रूरी बहसें निकाली जाएँ और राय के इख़्तिलाफ़ (फ़र्क़) को इख़्तिलाफ़-ए-नज़ा तक पहुँचाया जाए।

साद बिन अबी वक़्क़ास रज़ियल्लाहु अन्हु कहते हैं कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने फ़रमाया—

> "मुसलमानों में सबसे बड़ा मुजरिम वह है, जो एक ऐसी चीज़ के बारे में सवाल करे, जो लोगों के ऊपर हराम नहीं की गई थी। फिर उसके सवाल की वजह से वह हराम कर दी गई।"
> (मुत्तफ़क़ अलैह : सहीह अल-बुख़ारी, हदीस नंबर 7289; सहीह मुस्लिम, हदीस नंबर 2358)

इस हदीस की वज़ाहत क़ुरआन की एक आयत से होती है। वह आयत यह है—

> يا أَيُّهَا الَّذِينَ آمَنُوا لا تَسْئَلُوا عَنْ أَشْياءَ إِنْ تُبْدَ لَكُمْ تَسُؤْكُمْ.
>
> "ऐ ईमान वालो, ऐसी बातों के मुताल्लिक़ सवाल न करो कि अगर वे तुम पर ज़ाहिर कर दी जाएँ, तो वे तुमपर बोझ बन जाएँगी।" (क़ुरआन, 5:101)

मज़कूरा आयत और हदीस को मिलाने से मालूम होता है कि वह कौन-सा सवाल है, जो इस्लाम में नापसंद किया गया है यानी वह सवाल, जिससे एक इंसान के लिए आसानी का रास्ता खुलने के बजाय मशक़्क़त पैदा हो जाए। इस क़िस्म के ग़ैर-ज़रूरी सवालों में पड़ने की मुमानिअत जो रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम के ज़माने में थी, वही आज भी मतलूब है। आज भी सही तरीक़ा

यह है कि जो हुक्म जिस तरह दिया गया है, उसे उसी तरह रहने दिया जाए। ग़ैर-ज़रूरी सवाल क़ायम करके उसकी हुदूद-ओ-क़ुयूद (boundaries) को बढ़ाने की कोशिश न की जाए। इससे इंसान मुश्किल में पड़ जाता है। आसान तरीक़ा वह है, जो मसले को मसले तक महदूद रखे। इसके मुक़ाबले में मुश्किल तरीक़ा वह है, जो अस्ल मसले में दूसरे मसले का इज़ाफ़ा कर दे।

दीन की अस्ल रूह अल्लाह का ख़ौफ़ और आख़िरत की फ़िक्र है, मगर बाद के ज़माने में जब अंदरूनी रूह सर्द पड़ती है, तो ज़वाहिर का ज़ोर बहुत बढ़ जाता है। अब ग़ैर-ज़रूरी तौर पर बाल की खाल निकालकर नए-नए मसाइल बनाए जाते हैं। पिछले ज़माने में यहूद का यही हाल हुआ था। उन्होंने ख़ुदा के दीन के नाम पर ज़ाहिरी मसाइल की जकड़-बंदियों से एक ख़ुद-साख़्ता ढाँचा बना लिया था और उसे ख़ुदा का दीन समझते थे। पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने उनके सामने दीन को उसकी फ़ितरी सूरत में पेश किया। ग़ैर-ज़रूरी पाबंदियों को ख़त्म करके सादा और आसान दीन की तरफ़ इंसानों की रहनुमाई फ़रमाई। यही सादा और आसान दीन अल्लाह तआला को मतलूब है।

अबू हुरैरा रज़ियल्लाहु अन्हु कहते हैं कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने फ़रमाया—

> “आख़िरी ज़माने में बहुत-से झूठे दज्जाल ज़ाहिर होंगे। वे तुम्हें ऐसी हदीसें सुनाएँगे, जिन्हें न तुमने सुना होगा और न तुम्हारे बाप-दादा ने सुना होगा। पस तुम उनसे बचना और उन्हें अपने से दूर रखना, ताकि वे तुम्हें गुमराह न करें और तुम्हें फ़ितने में न डाल पाएँ।” (सहीह मुस्लिम, हदीस नंबर 707)

दज्जाल से मुराद ‘ख़द्दाअ’ है (लिसानुल अरब, जिल्द 11, सफ़्हा 237) यानी बहुत बड़ा धोखा देने वाला। मामूली धात के बर्तन पर सोने

का पानी चढ़ाकर उसे सोना ज़ाहिर किया जाए, तो इसे भी 'दज्ल' कहा जाता है। यह वे लोग हैं, जो इंसानों के साथ ग़लत रहनुमाई का मामला करेंगे। चूँकि ग़लत रहनुमाई का अमल वे लोग निहायत होशियारी के अंदाज़ में अंजाम देंगे और आम इंसान इसकी ग़लत रहनुमाई को सही रहनुमाई समझ लेंगे, इसलिए इन्हें हदीस में 'दज्जाल' (The Great Deceiver) कहा गया है।

हदीस का मतलब यह है कि बाद के ज़माने में उम्मत में ऐसे फ़रेबी लोग पैदा होंगे, जो ग़ैर-दिनी बातों को दीनी बनाकर पेश करेंगे। उनकी बातें अपनी हक़ीक़त के एतिबार से सरासर ग़ैर-इस्लामी होंगी, मगर मौज़ू हदीसों और ग़लत तफ़्सीरों के ज़रिए वे उन्हें इस तरह ख़ुशनुमा बनाएँगे कि लोग उन्हें ऐन इस्लाम समझकर उनपर टूट पड़ेंगे। यह उम्मत की तारीख़ में शायद सबसे बड़ा फ़ितना होगा, इसीलिए इसे 'दज्जाली फ़ितना' से ताबीर किया गया। दज्जाल का फ़ितना आइडियोलॉजी का फ़ितना है। जो लोग इस फ़ितने में मुब्तला हों, उन्हें दज्जाली फ़रेब से निकालने के लिए दुबारा हुज्जत यानी अक़्ली इस्तिदलाल का तरीक़ा इस्तेमाल करना होगा।

अबू हुरैरा रज़ियल्लाहु अन्हु कहते हैं कि अहले-किताब तौरात को इब्रानी ज़ुबान में पढ़ते और अरबी में उसका तर्जुमा करते। रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने फ़रमाया—

> "अहले-किताब की न मानो, तस्दीक़ करो और न इनकार करो। तुम यह कह दो कि हम अल्लाह पर ईमान लाए और उस पर ईमान लाए, जो हमारी तरफ़ उतारा गया है।"
>
> (सहीह अल-बुख़ारी, हदीस नंबर 7542)

तशरीह : हदीस की यह बात आम मुसलमानों की निस्बत से है। आम मुसलमान जो इल्मी तजज़िया और तहक़ीक़ की सलाहियत न

रखते हों, उन्हें इस तरह के मामले में ऐसा ही रवैया इख़्तियार करना चाहिए, मगर जहाँ तक अहले-इल्म का ताल्लुक़ है, वे दीनी मक़ासिद के तहत क़दीम सहीफ़ों का मुताला कर सकते हैं।

अबू हुरैरा रज़ियल्लाहु अन्हु कहते हैं कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने फ़रमाया—

> "आदमी के झूठा होने के लिए यही काफ़ी है कि वह जिस बात को सुने, उसे बयान करने लगे।"
>
> (सहीह मुस्लिम, हदीस नंबर 505)

तशरीह : झूठ यह है कि आदमी एक ऐसी बात कहे, जो वाक़ये के ख़िलाफ़ हो। सुनी हुई बात का मामला भी अपनी नौइयत के एतिबार से यही है। सुनना ब-ज़ात-ए-ख़ुद कोई दुरुस्त ज़रिया-ए-इल्म नहीं। किसी के ख़िलाफ़ सुनी हुई एक बात उस वक़्त तक ग़ैर-मोतबर है, जब तक कि वह तहक़ीक़ी ज़राए से साबित न हो जाए। ऐसी हालत में किसी के ख़िलाफ़ एक बुरी ख़बर को सुनकर उसे बयान करना ग़ैर-तहक़ीक बात को दोहराना है और ग़ैर-तहक़ीक बात और ख़िलाफ़-ए-वाक़या बात के दरमियान अपनी नौइयत के एतिबार से कोई फ़र्क़ नहीं।

इस हदीस-ए-रसूल में बात के ग़ैर-मतलूब तरीक़े को बयान किया गया है। अब सवाल यह है कि बात का मतलूब तरीक़ा क्या है? यह मतलूब तरीक़ा क़ुरआन के मुताले से मालूम होता है।

क़ुरआन की सूरह अल-हुजुरात में यह उसूल इस तरह बयान किया गया है—

يَاأَيُّهَا الَّذِينَ آمَنُوا إِنْ جَاءَكُمْ فَاسِقٌ بِنَبَإٍ فَتَبَيَّنُوا أَنْ تُصِيبُوا قَوْمًا بِجَهَالَةٍ فَتُصْبِحُوا عَلَى مَا فَعَلْتُمْ نَادِمِينَ.

"ऐ ईमान वालो, अगर कोई फ़ासिक़ तुम्हारे पास ख़बर लाए, तो तुम अच्छी तरह तहक़ीक़ कर लिया करो, कहीं ऐसा न हो कि तुम किसी गिरोह को नादानी से कोई नुक़सान पहुँचा दो, फिर तुम्हें अपने किए पर पछताना पड़े।" (क़ुरआन, 49:6)

क़ुरआन की इस आयत में यह हुक्म दिया गया है कि बात को सुनने के बाद उसे उसी तरह बयान न किया जाए, बल्कि पहले उसकी मुकम्मल तहक़ीक (thorough inquiry) की जाए। बात को सुनकर उसी तरह लोगों से बयान करना झूठे आदमी की पहचान है और बात को सुनने के बाद उसकी मुकम्मल तहक़ीक़ करना सच्चे आदमी की पहचान है।

अब्दुल्लाह इब्न मसऊद रज़ियल्लाहु अन्हु कहते हैं कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने फ़रमाया—

"मुझसे पहले जिस नबी को भी अल्लाह ने उसकी उम्मत में भेजा, तो उसकी उम्मत में से कुछ लोग उसके हवारी हुए और ऐसे असहाब हुए, जो रसूल की सुन्नत को लेते थे और उनके हुक्म की पैरवी करते थे। फिर उनके बाद उनके ना-ख़लफ़ पैदा हुए। वे ऐसी बात कहते थे, जिसे वे ख़ुद न करते थे और वे ऐसे काम करते थे, जिसका उन्हें हुक्म नहीं मिला था। पस जो ऐसे लोगों के साथ अपने हाथ से जिहाद करे, वह मोमिन है और जो ऐसे लोगों के साथ अपनी ज़ुबान से जिहाद करे, वह मोमिन है और जो ऐसे लोगों के साथ अपने दिल से जिहाद करे, वह मोमिन है और इसके बाद राई के दाने के बराबर भी ईमान का कोई दर्जा नहीं।" (सहीह मुस्लिम, हदीस नंबर 50)

तशरीह : इस हदीस में एक फ़ितरी क़ानून का ज़िक्र है, जो हर नबी की उम्मत के साथ पेश आता है। हर नबी की उम्मत की पहली नस्ल

उन अफ़राद पर मुश्तमिल होती है, जो शऊरी इंक़लाब के तहत नबी के साथी बनते हैं, मगर उम्मत की बाद की नस्लों का मामला इससे मुख़्तलिफ़ होता है। ये लोग शऊरी इंक़लाब के बग़ैर सिर्फ़ पैदाइशी ताल्लुक़ की बुनियाद पर उम्मत में शामिल हो जाते हैं। बाद के लोगों में वह ज़िंदा अक़ीदा और आला किरदार बाकी नहीं रहता, जो उम्मत के इब्तिदाई लोगों में था।

जब कोई उम्मत ज़वाल के इस दौर में पहुँच जाए, तो उस वक़्त ज़रूरी हो जाता है कि उसे नए सिरे से ज़िंदा ईमान पर खड़ा किया जाए। यह इस्लाही काम उम्मत के उन अफ़राद को करना होता है, जो दीन का गहरा इल्म रखते हों। इन अफ़राद पर यह फर्ज़ हो जाता है कि वे 'इहया' (revival) और इस्लाह के इस अमल में अपनी सारी ताक़त लगाएँ। अगर वे अमली एतिबार से यह जद्दोजहद कर सकते हैं, तो वे अमली एतिबार से इसकी कोशिश करें। अगर ऐसा मुमकिन न हो, तो उनपर फ़र्ज़ है कि वे ज़ुबान से हक़ का ऐलान करें और अगर यह भी मुमकिन न हो, तो वे उम्मत की इस्लाह के लिए तड़पें और उसके लिए दुआएँ करें। अगर यह तीसरी चीज़ भी न पाई जाए, तो इसका मतलब यह होगा कि ईमान की आख़िरी अलामत भी लोगों में बाक़ी नहीं।

डायरी : 1986

11 जून, 1986

हिंदुस्तान के दो आलिम पाकिस्तान गए थे। वहाँ वे तक़रीबन डेढ़ माह रहकर वापस आए हैं। दिल्ली में उनसे मेरी मुलाक़ात हुई।

गुफ़्तगू के दौरान पाकिस्तान की सियासत का ज़िक्र हुआ। मैंने कहा कि अख़बारात बज़ाहिर यह तास्सुर दे रहे हैं कि पाकिस्तान में

अगर आज़ादाना इलेक्शन हुआ, तो भुट्टो पार्टी जीत जाएगी। उन्होंने फ़ौरन उसकी तर्दीद की। उन्होंने कहा कि बेनज़ीर और भुट्टो पार्टी की मक़बूलियत देहातों तक महदूद है। अगर इलेक्शन हुआ, तो मुम्किन है कि वे देहातों में जीत जाएँ, मगर शहरों में ये लोग कभी कामयाब नहीं हो सकते।

पाकिस्तान से वापस आने वाले साहिबान का यह तब्सिरा बताता है कि किसी मुल्क में जाना इस बात के लिए काफ़ी नहीं है कि आदमी वहाँ के हालात से गहराई के साथ बा-ख़बर हो जाए। मज़कूरा दोनों आलिम एक ऐसे मुल्क में गए, जहाँ मज़हब का फ़र्क़ नहीं, जहाँ की सरकारी ज़ुबान उर्दू है। वे वहाँ के किसी भी शख़्स से अपनी मादरी ज़बान में बात कर सकते थे। इसके बावजूद वे पाकिस्तान की सियासत से बे-ख़बर रहे।

मैंने उन साहिबान को बताया कि पाकिस्तान की आबादी का 80 फ़ीसद हिस्सा देहातों में रहता है और 20 फ़ीसद हिस्सा शहरों में। अगरचे मुझे इस बात से इत्तिफ़ाक़ नहीं है कि भुट्टो पार्टी शहरों में कामयाब नहीं होगी, ताहम अगर आपके बक़ौल वह सिर्फ़ वहाँ के देहातों में कामयाब हो, तब भी वह पाकिस्तान की 80 फ़ीसद सीट पर क़ब्ज़ा कर लेगी।

हक़ीक़त यह है कि किसी मुल्क को जानने के लिए वहाँ जाना काफ़ी नहीं है, बल्कि उसके लिए ज़रूरी है कि आदमी के अंदर तजज़ियाती (analytical) सलाहियत हो। वह देख और समझकर सही नतीजा अख़्ज़ कर सके।

12 जून, 1986

आज मालेगाँव के कई आदमी मिलने के लिए आए। मालेगाँव में मुसलमानों की अक्सरियत है और बेशतर लोग पावरलूम का कारोबार

करते हैं। वहाँ का हर आदमी किसी-न-किसी एतिबार से पावरलूम की इंडस्ट्री से वाबस्ता है।

गुफ़्तगू के दौरान मैंने उनसे पूछा कि मालेगाँव की तिजारत में मुसलमानों का कितना हिस्सा है? उन्होंने कहा कि ज़्यादातर तिजारत मुसलमानों के हाथ में है। इसके बाद मैंने मज़ीद सवाल शुरू किए, तो मालूम हुआ कि उनका यह जुमला वाक़ये के मुताबिक़ नहीं कि मालेगाँव का ज़्यादातर कारोबार मुसलमानों के हाथों में है। मसलन— उन्होंने बताया कि सूत की सप्लाई का कारोबार ज़्यादातर हिंदुओं के हाथ में है। इसी तरह तैयार-शुदा कपड़ों को मार्केट में लाने का काम भी हिंदू करता है। दूसरे लफ़्ज़ों में यह कि पावरलूम कारोबार के दो सबसे बड़े हिस्से पर हिंदू साहिबान का कब्ज़ा है। पहला, इब्तिदाई मरहले में सूत फ़राहम करना। दूसरे मरहले में तैयार-शुदा सामान को बाज़ार में लाना। सूत की सप्लाई और तैयार-शुदा माल की मार्केटिंग ये दोनों आढ़त वाले काम हैं।

पूरे शहर में इनके सिर्फ़ चंद डीलर होते हैं, जबकि दूसरे कामों में हज़ारों लोग मशग़ूल रहते हैं और हर गली व हर सड़क पर इसकी सरगर्मियाँ दिखाई देती हैं। इस बुनियाद पर उन्होंने समझ लिया कि मुसलमान मालेगाँव के ज़्यादातर तिजारती हिस्से पर क़ाबिज़ हैं। हालाँकि जो लोग बिज़नेस को समझते हैं, उन्हें मालूम है कि पावरलूम की इंडस्ट्री में ज़्यादा बड़ा हिस्सा (lion's share) उन्हीं लोगों को मिलता है, जो ख़ाम माल (raw material) सप्लाई करते हों और तैयार-शुदा माल की मार्केटिंग कर रहे हों। आदमी के अंदर तजज़ियाती ज़ेहन न हो, तो वह अपने क़दमों के नीचे के हालात से हमेशा बेख़बर रहेगा।

13 जून, 1986

मौलाना अमीरुल्लाह क़ासमी (महबूब नगर) ने बताया कि महबूब नगर के एक साहब बांग्लादेश गए। वे तब्लीग़ी जमात के साथ वहाँ गए थे।

बांग्लादेश में माली बदहाली का हाल देखकर उन्होंने वहाँ के एक तालीम-याफ़्ता शख़्स से पूछा कि बांग्लादेश की आमदनी का ज़रिया क्या है। मज़कूरा शख़्स ने इसका जवाब दिया— साइक्लोन।

उसने कहा कि बांग्लादेश में जब साइक्लोन आता है, तो हम इसकी ख़बरें बड़ा-चढ़ाकर शाए करते हैं। इतने आदमी मर गए, इतनी बस्तियाँ बह गईं, इतने मवेशी हलाक हो गए वग़ैरह-वग़ैरह। इन ख़बरों के बाद बैरूनी मुल्कों का जज़्बा-ए-हमदर्दी बेदार होता है और वे सामान और रक़म भेजना शुरू कर देते हैं। बस यही है हमारा ज़रिया-ए-आमदनी।

कैसी बुरी थी तक़सीम की सियासत, जिसने बर्रे-सग़ीर हिंद में रहने वाले मुसलमानों को तीन टुकड़ों में तक़सीम कर दिया। इंडिया में वे कमज़ोर अक़ल्लियत (minority) बन गए। बांग्लादेश में वे एक ग़रीब क़ौम बन गए और पाकिस्तान में वे एक ऐसी क़ौम बन गए, जिसे कभी सियासी इस्तिहकाम (firmness) हासिल न हुआ।

इंडियन सब-कंटीनेंट में मुसलमान वाहिद सबसे बड़ा मुस्लिम गिरोह होते। हिंदुस्तान के पार्टीशन के बाद वे तीन कमज़ोर गिरोह बनकर रह गए। यह थी मुसलमानों के क़ाइद-ए-आज़म की सियासत। अगर मुसलमानों ने कहीं क़ाइद-ए-असग़र (छोटे लीडर) पैदा किया होता, तो उनका क्या अंजाम होता?

14 जून, 1986

निज़ामुद्दीन में हमारे मकान के पास एक दोमंज़िला इमारत है। इसके मालिक एक हिंदू मिस्टर उप्पल (Mr. Uppal) हैं। वे उर्दू जानते हैं। चुनाँचे वे हमारे यहाँ की छपी हुई किताब 'अल्लाहु अकबर' ले गए थे। आजकल वे उसे पढ़ रहे हैं।

मिस्टर उप्पल का टेलीफ़ोन आया। उन्होंने कहा कि आपने बड़ी अजीब किताब लिखी है। मैं इसे बहुत ग़ौर से पढ़ रहा हूँ और मुझे इसमें

बड़ा आनंद मिल रहा है। इसी तरह निज़ामुद्दीन के एक और हिंदू मिस्टर आवल ने इस किताब की ग़ैर-मामूली तारीफ़ की। भोपाल के मिस्टर प्रेम नारायण गुप्ता का ख़त आया है। उसमें उन्होंने अपने ग़ैर-मामूली तास्सुर का इज़हार करते हुए लिखा है कि इस किताब का तर्जुमा हिंदी ज़बान में शाए होना चाहिए।

हिंदुस्तान के मुसलमानों ने हिंदुओं के सामने इस्लाम पेश करने का वह तरीक़ा इख़्तियार किया, जिसे 'मुनाज़रा-बाज़ी' कहा जाता है यानी हिंदू धर्म को कंडम करके इस्लाम को पेश करना।

'अल्लाहु अकबर' में इस्लाम की तालीमात को ख़ालिस फ़ितरी अंदाज़ में पेश किया गया है। चुनाँचे वह पढ़ने की फ़ितरत को अपील करता है। मुनाज़रे के तरीक़े से हिंदुओं को इस्लाम से चिढ़ होती थी, जबकि 'अल्लाहु अकबर' वाला तरीक़ा उन्हें अपनी तरफ़ खींचता है।

अल्लाह तआला हमें तौफ़ीक़ दे कि हम इस्लाम के मुसबत (positive) पैग़ाम को इस मुल्क के हिंदुओं और दूसरी क़ौमों के सामने पेश कर सकें।

15 जून, 1986

मोहम्मद असलम साहब होम मिनिस्ट्री में अंडर सेक्रेटरी हैं। आजकल वे नंबर-44 पटौदी हाउस (नई दिल्ली) में रहते हैं। उनसे उनके मकान पर मुलाक़ात हुई। डॉक्टर मोहसिन उस्मानी नदवी भी साथ थे।

जनाब असलम साहब ने कुछ उलमा की तहरीरें दिखाईं, जिनमें हज्जाज बिन यूसुफ़ को बहुत बुरा-भला कहा गया था, क्योंकि उसने मंजनीक़ (मशीनरी गुलेल) के ज़रिए काबा पर पत्थर फेंके।

इसकी हक़ीक़त यह है कि हज्जाज बिन यूसुफ़ अब्दुल मलिक की तरफ़ से हिजाज़ का गवर्नर था। उसी ज़माने में अब्दुल्लाह बिन जुबैर ने अब्दुल मलिक की हुकूमत के खिलाफ़ बग़ावत कर दी और काबा

को मर्कज़ बनाकर अपनी मुख़ालिफ़ाना तहरीक चलाने लगे। उस वक़्त अब्दुल्लाह बिन जुबैर को ज़ेर (क़ाबू) करने के लिए हज्जाज बिन यूसुफ़ ने जो कारवाइयाँ कीं, इन्हीं में से एक बैतुल्लाह पर पत्थर फेंकना है।

यह अमल अगर ग़लत है, तो उतना ही ग़लत सऊदी हुकूमत का वह अमल भी है, जब 1979 में शाह ख़ालिद के ज़माने में बाग़ियों को हराने के लिए बैतुल्लाह के अंदर गोलियाँ चलाई गईं और हथियार-बंद फ़ौज उसके अंदर दाख़िल हो गई।

हमारे उलमा हज्जाज बिन यूसुफ़ के ख़िलाफ़ पुरजोश तौर पर लिखते और बोलते हैं, मगर मुझे मौजूदा ज़माने का कोई एक भी क़ाबिले-ज़िक्र आलिम मालूम नहीं है, जिसने शाह ख़ालिद की इस क़िस्म की कार्रवाई के ख़िलाफ़ कोई मज़म्मती बयान दिया हो।

यह एक हक़ीक़त है कि ऊपर लिखे दोनों अमल बिलकुल एक ही क़िस्म के अमल हैं। अगर वे ग़लत हैं, तो दोनों के लिए ग़लत हैं और अगर वे दुरुस्त हैं, तो दोनों के लिए दुरुस्त हैं। मौजूदा ज़माने के उलमा आम तौर पर इस क़िस्म के तज़ाद (contradiction) में मुब्तला हैं। वे एक मामले में एक शख़्स की मज़म्मत करेंगे और ठीक उसी क़िस्म के मामले में दूसरे के बारे में ख़ामोश रहेंगे। मेरा ज़ाती मस्लक यह है कि मैं एक के मामले में भी ख़ामोश रहता हूँ और दूसरे के मामले में भी।

16 जून, 1986

'हिंदुस्तान टाइम्स' (16 जून, 1986) के आख़िरी सफ़्हे पर एक ख़बर है। इस ख़बर में बताया गया है कि इसराइल की राजधानी तेल अबीब में वहाँ की रिलीजन माइनॉरिटी और सेक्युलर मेजॉरिटी के दरमियान एक इख्तिलाफ़ पैदा हो गाया है। यहूदियों का मज़हबी तबक़ा इसके ख़िलाफ़ सख़्त एहतिजाज कर रहा है कि औरतों की बेहया तस्वीरें इश्तिहारों में इस्तेमाल की जाएँ।

तेल अबीब में ऐसे बहुत-से इश्तिहारों पर स्याही फेरी गई या उनके बोर्ड जलाए गए, जिनमें औरतों को नहाने के लिबास में दिखाया गया था।

अख़बार की रिपोर्ट का एक पैरा यह है—

> "We do not believe in violence, but the secular people have declared war on us. We will return war for war, a war to end all wars. Rabbi Avraham Salomon, a leader of the ultraorthodox sect Eda Haredit, told the Associated Press in an interview."
>
> "हम तशद्दुद में यक़ीन नहीं रखते, मगर सेक्युलर लोगों ने हमारे ख़िलाफ़ एक जंग छेड़ दी है। हम जंग का जवाब जंग से देंगे। एक जंग, जो तमाम जंगों को ख़त्म करने के लिए होगी। यह बात यहूदियों के एक कट्टर मज़हबी लीडर ने कही।"

यह वाक़या जो इसराइल में हुआ, इसी क़िस्म के वाक़यात मुख़्तलिफ़ इस्लामी मुल्कों में भी हो चुके हैं और ख़ुद हिंदुस्तान में भी होते हैं। इन्हें करने वाले वे लोग हैं, जो अपने आपको इस्लामी निज़ाम का अलमबरदार (flag bearers) कहते हैं।

बेहया इश्तिहारों पर स्याही फेरना या उन्हें जलाना-फूँकना कोई दीनी फ़ेअल है तो ऐन यही अमल यहूदियों का मज़हबी तबक़ा भी इसराइल में कर रहा है। क्या नाम-वास्ते इस्लाम-पसंद तबक़ा इस मामले में यहूदियों को भी वही क्रेडिट देना पसंद करेगा, जिसे उसने अपने फ़ख़्र की फ़ेहरिस्त में दर्ज कर रखा है?

एक इंटरव्यू

(ज़ेर-ए-नज़र इंटरव्यू मौलाना वहीदुद्दीन ख़ान साहब से सितंबर, 1991 में 'ज़िंदगी' लाहौर के नुमाइंदे असग़र अब्दुल्लाह ने लिया था। माहनामा तज़कीर लाहौर के शुक्रिया के साथ यहाँ शाया किया जा रहा है।)

सवाल : मौलाना क़ारईन-ए-ज़िंदगी को अपने सफ़र-ए-ज़िंदगी के हालात सुनाएँ।

जवाब : मैं 1925 में आज़मगढ़ में पैदा हुआ। हमारा घराना मज़हबी घराना था। इब्तिदाई तालीम एक दीनी मदरसे में हासिल की। वहाँ से फ़राग़त के बाद तलाश-ए-हक़ का जज़्बा पैदा हुआ। मैंने यकसूई से मुताला शुरू कर दिया, जिससे इस्लाम पर नए सिरे से मेरा यक़ीन बहाल हुआ। यह यक़ीन मदरसे में हासिल न हुआ था। मुताले के दौरान यह इंकिशाफ़ हुआ कि इस्लाम को आज के ज़माने में इल्म-ए-जदीद (modern scientific knowledge) का चैलेंज दरपेश है और आज के ज़माने, जिसे दावत-ए-इस्लाम का काम करना है, उसके लिए इल्म-ए-जदीद पर उबूर हासिल करना लाज़िम है। मदरसे में मैंने अरबी ज़ुबान पढ़ी थी। अब अंग्रेज़ी ज़ुबान सीखने का शौक़ हुआ। क़रीब-क़रीब 20 साल मेरे ऊपर ऐसे गुज़रे कि मैंने अंग्रेज़ी के सिवा कुछ न पढ़ा। अंग्रेज़ी में ही ग़र्क़ रहा। इस तरह जदीद उलूम तक मेरी रसाई हुई। 'इस्लाम और अस्र-ए-हाज़िर' मेरा ख़ुसूसी मौज़ू बन गया।

सवाल : इसके अलावा आपने किन-किन मौज़ूआत को मुताले का हदफ़ बनाया?

जवाब : जो कुछ मिला, पढ़ लिया। किसी एक मज़मून पर तवज्जोह मर्कूज़ नहीं की। मसलन— मैंने यह तय किया कि अंग्रेज़ी अख़बार ही पढ़ूँगा। इब्तिदा में कुछ समझ में आता, कुछ न आता; लेकिन फिर रवाँ हो गया। इसके बाद मैंने लाइब्रेरियों का रुख़ किया और उन्हें खँगाल डाला। कई ऐसी लाइब्रेरियाँ भी थीं कि किताबों पर गर्द जमी हुई थी। शायद मैंने ही उन्हें पहली मर्तबा खोलकर पढ़ा। फ़लसफ़ा, साइंस, समाज, इकॉनमी! जिस मौज़ू पर जो कुछ मिला, पढ़ डाला।

सवाल : आपने दीनी तालीम के अलावा दूसरी तालीम कहाँ हासिल की?

जवाब : दीनी तालीम ही मैंने बाक़ायदा हासिल की, इसके अलावा ज़ाती मुताला किया।

सवाल : जमात-ए-इस्लामी से वाबस्तगी कब इख़्तियार की?

जवाब : नौजवानी में ही जमात-ए-इस्लामी से क़ुर्बत पैदा हुई। उसके बाद मैं जमात-ए-इस्लामी में शामिल हो गया। तक़रीबन पंद्रह बरस इस जमात से वाबस्ता रहा। 1957 के लगभग मुझे जमात-ए-इस्लामी से फ़िक्री इख़्तिलाफ़ पैदा हुआ। मैंने मुताला जारी रखा, जमात-ए-इस्लामी के ज़िम्मेदार असहाब से बातें कीं, असहाब-ए-इल्म से ख़त-ओ-किताबत की। रफ़्ता-रफ़्ता मुझ पर जमात-ए-इस्लामी के फ़िक्र की ग़लती वाज़ेह होती गई। मैंने मुनासिब समझा कि अब मुझे जमात-ए-इस्लामी से अलहिदगी इख़्तियार कर लेनी चाहिए। जमात-ए-इस्लामी के ज़िम्मेदारान का इसरार था कि मैं जमात-ए-इस्लामी से ताल्लुक़ ख़त्म न करूँ। कोई राज़ी न था कि मैं जमात-ए-इस्लामी छोड़ दूँ, लेकिन मेरे लिए ऐसा मुमकिन न था।

सवाल : ऐसा क्यों मुमकिन न हुआ?

जवाब : इसलिए कि मेरी दियानत-दाराना राय यह थी कि जमात-ए-इस्लामी मौलाना मौदूदी मरहूम के फ़िक्र की बुनियाद पर उठी है और तारीख़ी असबाब ने उनके लिटरेचर को यह हैसियत दे दी कि अब वही जमात के ज़िम्मेदारों की नज़र में जमात-ए-इस्लामी के फ़िक्र की मोतबर तशरीह है। ऐसी हालत में एक शख़्स अगर जमात-ए-इस्लामी के अंदर रहते हुए दीन की ऐसी तशरीह को फैलाने की कोशिश करता है, जो मौलाना के लिटरेचर के मुताबिक़ नहीं तो यह अमानतदारी के ख़िलाफ़ है। जमात-ए-इस्लामी का प्लेटफार्म उनके अपने नज़रियात को फैलाने के लिए है, किसी दूसरे के नज़रियात की तबलीग़ के लिए नहीं।

सवाल : लेकिन जमात-ए-इस्लामी के ज़िम्मेदारान ने तो आपको इजाज़त दे दी थी कि आप अपने इख़्तिलाफ़ात पर क़ायम रहते हुए जमात-ए-इस्लामी के प्लेटफार्म पर काम कर सकते हैं?

जवाब : जमात-ए-इस्लामी के अंदर रहकर काम करने की एक ही सूरत थी कि जमात मौलाना मौदूदी के लिटरेचर के बारे में यह तय कर देती कि वह जमात-ए-इस्लामी के फ़िक्र की मुस्तनद शरह नहीं। मैंने अमीर-ए-जमात-ए-इस्लामी हिंद को यह तजवीज़ पेश भी की, जो उन्हें क़ुबूल न थी। ज़ाहिर है, इसके बाद मेरे लिए एक ही राह बाक़ी रह गई कि मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, उसे कहने के लिए जमात-ए-इस्लामी के दायरे से बाहर निकल आऊँ। सो मैंने ऐसा किया और मैं अपने इस फ़ैसले पर मुतमइन हूँ।

सवाल : जमात-ए-इस्लामी के फ़िक्र से आपको बुनियादी इख़्तिलाफ़ क्या था?

जवाब : देखिए, मौलाना मौदूदी मरहूम की ग़लती आम ग़लतियों से मुख़्तलिफ़ है। उन्होंने यह नहीं किया कि दीन, अक़ीदा और अमल के जिस मजमूए का नाम है, उसमें कमी-बेशी की हो। वे सारे दीन को तस्लीम करते हैं, लेकिन इस मजमूए के मुख़्तलिफ़ अजज़ा की वाक़ई हैसियत उनकी तशरीह में बदल गई है। नतीजा यह है कि उनसे मुतास्सिर ज़ेहन बज़ाहिर सब कुछ मानते हैं, लेकिन सब कुछ को वे उस तरह नहीं मानते, जिस तरह उन्हें मानना चाहिए।

क़ुरआन-ओ-हदीस से मालूम होता है कि अस्ल चीज़ ख़ुदा से ताल्लुक़ पैदा करना और आख़िरत के अज़ाब से डरना है। इसे हमें अपनाना है और इसी की तरफ़ हमें अहले-दुनिया को बुलाना है, लेकिन इस फ़िक्र ने आख़िरत और ताल्लुक़-बिल्लाह के पहलू को महज़ तर्बियत की ज़रूरत बनाकर रख दिया है। इसकी तशरीह के ख़ाने में ये चीज़ें ऐसी हैसियत इख़्तियार कर गई हैं गोया ये कारकुन तैयार

करने की तर्बियत-गाहें हैं, न कि यही वह अस्ल बात है, जिसके लिए हमें मुतहर्रिक होना है। मौलाना मौदूदी मरहूम के ख़्याल में अस्ल मसला दुनिया में इंक़लाब बरपा करने का है। आख़िरत का ख़ौफ़ और इस तरह की दूसरी चीज़ें इसलिए हैं, ताकि जो लोग इंक़लाब-ए-आलम का यह प्रोग्राम लेकर उठें या इंक़लाब के बाद निज़ाम-ए-दुनिया को सँभालें, उनमें मक़सद की लगन और किरदार पैदा हो।

इसका मतलब यह नहीं कि जमात-ए-इस्लामी के लोग आख़िरत की कामयाबी के बजाय दुनिया में कामयाब होने को अपना हक़ीक़ी मक़सद बनाए हुए हैं। इनका हक़ीक़ी मक़सद तो बिला-शुब्हा आख़िरत ही की कामयाबी है, लेकिन आख़िरत के मक़सद को हासिल करने के लिए दुनिया में क्या करना है, इसके मुताल्लिक़ उनका तसव्वुर ग़लत हो गया है। एक शख़्स अगर यह नज़रिया क़ायम कर ले कि दुनिया की माद्दी क़ुव्वतों की तस्ख़ीर आख़िरत की कामयाबी का ज़रिया है और यह सोचकर वह इसके लिए काम करना शुरू कर दे, तो इसके बारे में यही कहा जाएगा कि असल मक़सद की हैसियत से तो बेशक उसने आख़िरत में ख़ुदा की रज़ा ही को सामने रखा है, मगर इस रज़ा को हासिल करने की सूरत क्या हो? दूसरे लफ़्ज़ों में, दुनिया में हम क्या पाने की कोशिश करें, ताकि आख़िरत में हम ख़ुदा को पा सकें? इसके मुताल्लिक़ जमात-ए-इस्लामी का तसव्वुर बदल गया है।

इस तशरीह का नतीजा यह है कि ताल्लुक़-बिल्लाह और आख़िरत वग़ैरह की बातें अगरचे जमात-ए-इस्लामी के प्रोग्राम में शामिल हैं, लेकिन इसके अफ़राद वह अपना हक़ीक़ी मुक़ाम हासिल न कर सके। चुनाँचे मैंने देखा कि मैं ख़ौफ़-ए-ख़ुदा और फ़िक्र-ए-आख़िरत के हवाले से जो बात करता हूँ, उसे इस ताबीर से मुतास्सिर ज़ेहन रद्द नहीं करता। वह उसे दिलचस्पी से पढ़ता और सुनता है, लेकिन लिटरेचर ने उसका जो ज़ेहनी साँचा बना दिया है, उसकी

वजह से इस क़िस्म की बातें उसके अंदर सही शक्ल में नहीं बैठतीं। वे बस तर्बियत के ख़ाने में चली जाती हैं। अब चूँकि दीन और फ़ितरत में कामिल मुताबिक़त है, इसलिए अगर फ़ितरत में ज़रा-सी कजी (crookedness) आ जाए, तो दीन उसके अंदर ठीक-ठीक बैठ नहीं सकता। लिहाज़ा सुनने और पढ़ने के बावजूद इस तरह की बातों का वाक़ई असर नहीं होता। यही वजह थी कि मुझे फ़ैसला करना पड़ा कि महज़ मुसबत तौर पर अपनी बात कहते रहना बेसूद है। अब ज़रूरी है कि साबिक़ा ताबीर पर बराहे-रास्त तनक़ीद करके पहले उसका ग़लत होना साबित किया जाए। सो मैंने यही किया।

सवाल : आपने इस मसले पर मौलाना मौदूदी मरहूम से ख़त-ओ-किताबत भी की थी?

जवाब : दिसंबर, 1961 में मैंने अपनी तहरीर की एक नक़ल तैयार करके उनके नाम रवाना की, लेकिन यह उन तक पहुँच न सकी। इसके बाद मैंने फिर एक नक़ल 10 मई, 1962 को दस्ती तौर पर लाहौर रवाना की और यह दरख़्वास्त की कि वे इसका जवाब मरहमत फ़रमाएँ, लेकिन उन्होंने जवाब न दिया। मेरा ख़याल है कि इस तरह का रवैया शायद उन्होंने मेरे साथ ही इख़्तियार किया, वरना आम तौर पर वे हर एक को जवाब दे दिया करते थे। उन्होंने न सिर्फ़ यह कि मेरा जवाब न दिया, बल्कि तरह-तरह के फ़िक़रे भी मुझ पर कसते रहे। एक मर्तबा उन्होंने लिखा कि आप अपनी तहरीर के हर सफ़्हे के साथ एक ख़ाली सफ़्हा शामिल कर दें। मैंने ऐसा कर दिया, लेकिन जवाब मौजूद नहीं था। अलबत्ता एक काग़ज़ पर उन्होंने कुछ लिखा हुआ था, लेकिन फिर उसे मिटा डाला गया था। अब चूँकि यहाँ उनकी नीयत का मसला आ जाता है और मेरा तरीक़ा यह है कि मैं नीयत पर बात नहीं करता कि नीयत का हाल अल्लाह ही जानता है, लेकिन जानने वाले जानते हैं कि यह मेरे लिए एक बहुत बड़ा हादसा था। मैंने अपने साथियों से कहा कि

मुझे बहुत ख़ुशी होती, अगर मौलाना मौदूदी मेरा ज़ेहन बदल दें। मैंने यह भी कहा कि मौलाना मौदूदी ने अगर मेरी तहरीर का जवाब न दिया और सिर्फ़ इतना ही कर दिया कि तहरीर के किसी एक हिस्से को लेकर उसे ग़लत साबित कर दिया, तो इससे कम-से-कम यह फ़ायदा ज़रूर होगा कि मैं डगमगा जाऊँगा, लेकिन अफ़सोस कि मेरी यह उम्मीद भी पूरी न हुई। बहरहाल मेरा ख़्याल है कि मौलाना मौदूदी ने एक ऐसी राह इख़्तियार की, जो दुरुस्त न थी। यह उनकी अख़्लाक़ी और दीनी ज़िम्मेदारी थी कि वे मेरे उठाए गए सवाल का जवाब देते।

सवाल : मौलाना मौदूदी मरहूम से कभी आप की बराहे-रास्त मुलाक़ात हुई?

जवाब : मेरी उनसे दो मुलाक़ातें हुईं। यह शायद 1971 के आस-पास की बात है। दोनों मुलाक़ातें मौलाना के घर 5-A ज़ीलदार पार्क में हुईं। एक मुलाक़ात अस्र और मग़रिब के दरमियान हुई। दूसरी मुलाक़ात तनहाई में हुई, जिसमें तवील बातचीत भी हुई।

सवाल : किन मौज़ूआत पर गुफ़्तगू हुई? 'ताबीर की ग़लती' पर भी तबादला-ए-ख़याल हुआ?

जवाब : यह मेरा और उनका मामला है। मेरा ख़याल है कि अब इस तरह की मुलाक़ात से किसी को कोई दिलचस्पी भी नहीं है, इसलिए इसे रहने ही दीजिए।

सवाल : मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने हिज़्बुल्लाह क़ायम की, मौलाना मौदूदी मरहूम ने जमात-ए-इस्लामी की बुनियाद रखी और अब डॉक्टर इसरार अहमद तंज़ीम-ए-इस्लामी के प्लेटफ़ार्म से इस्लामी इंक़लाब की जद्दोजहद कर रहे हैं, लेकिन न सिर्फ़ यह कि इस तरह की जमातों के मुआशरे पर कोई क़ाबिल-ए-ज़िक्र असरात नज़र नहीं आते, बल्कि इन तहरीकों ने जो निशानें मुक़र्रर किए, ब-ज़ाहिर वे भी हासिल नहीं हो सके। आपके ख़्याल में इसकी बुनियादी वजह क्या है?

जवाब : इसकी वजह बड़ी वाज़ेह है। अगर आपको घर बनाना है, तो पहले ही मरहले पर आप उसकी छत नहीं उठा सकते। अगर ऐसा करेंगे, तो क़यामत तक घर नहीं बन सकेगा। पहले आपको उसकी बुनियाद रखनी होगी, फिर सुतून तामीर होंगे, फिर उसके बाद छत डाली जाएगी। अख़बारों में एक इस्तिलाह है— 'उल्टा एहराम' (Inverted Pyramid)। मतलब यह कि एक शख़्स ने मॉल रोड (लाहौर) पर गोली से एक शख़्स को हलाक कर दिया। ख़बर यह होगी कि एक आदमी गोली से हलाक हो गया। अब यह वाक़ये की आख़िरी सूरत है, लेकिन इससे पहले गोली मारने वाले आदमी ने मंसूबा बनाया, बंदूक़ हासिल की, गोली हासिल की, मोटरसाइकिल हासिल की। इस तरह यह पूरा एक क़िस्सा है। अब अख़बार में तो इतनी-सी ख़बर आ जाती है कि एक आदमी गोली से हलाक हो गया। अख़बार के सफ़्हे पर तो उल्टा एहराम बन सकता है, लेकिन ज़िंदगी में नहीं बन सकता। जिन लोगों का आपने ज़िक्र किया, उन्होंने ज़िंदगी में उल्टा एहराम बनाने की कोशिश की।

इसी तरह पाकिस्तान में यह कहा जाता है कि हिंदुस्तानी कल्चर हम पर हमला-आवर है और यह कि हमें इसे रोकना है, लेकिन क्या वह रुक गया? हिंदुस्तानी फ़िल्में आपके घर-घर में देखी जा रही हैं। हुकूमत का इख़्तियार नाकाम हो गया है। ऐसा क्यों हो रहा है? इसलिए कि मुआशरा और फ़र्द तैयार नहीं। मौलाना आज़ाद से लेकर डॉक्टर इसरार तक कोई एक तहरीक भी ऐसी नहीं, जिसने हक़ीक़ी मअनों में 'तामीर-ए-फर्द' का काम किया हो और इन उल्टे कामों को छोड़ दिया हो, जो तामीर-ए-फ़र्द के काम की राह में रुकावट बनते हैं। मसलन— आप चाहते हैं कि आपका बेटा डॉक्टर बने, लेकिन आप उससे दादागीरी भी करवा रहे हैं, तो ऐसा हो नहीं सकता कि वह दादागीरी भी करे और डॉक्टर भी बने। डॉक्टर बनने के लिए दादागीरी तर्क करनी पड़ेगी।

मेरे ख़याल में इन तहरीकों की नाकामी की वजह यह है कि इन तहरीकों ने उस काम को अपना हदफ़ क़रार दे दिया, जो दीन का हदफ़ नहीं। इस तरह उनकी तमाम जद्दोजहद 'अमलन' निशानें तक पहुँचने से रह गई। उस तीर-ए-नीमकश की तरह जिसका कोई निशाना न हो। (जारी)

हर वालिदैन को फ़ितरी तौर पर अपनी औलाद से ग़ैर-मामूली मोहब्बत होती है। इस मोहब्बत का बेहतरीन इस्तेमाल यह है कि वालिदैन अपने बच्चों को आदाब-ए-ज़िंदगी सिखाएँ। वे अपने बच्चों को बेहतर इंसान बनाकर दुनिया के कार-ज़ार में दाख़िल करें। यह देखा गया है कि वालिदैन अपनी मोहब्बत का इस्तेमाल ज़्यादातर इस तरह करते हैं कि वे अपने बच्चों की हर ख़्वाहिश पूरी करने में लगे रहते हैं। वे समझते हैं कि बच्चा जो चाहे, वह उसके लिए हाज़िर कर दिया जाए। यही बच्चे के लिए मोहब्बत का सबसे ज़्यादा बड़ा इस्तेमाल है, मगर यह बच्चों के हक़ में ख़ैर-ख़्वाही नहीं। उनके हक़ में ख़ैर-ख़्वाही यह है कि बच्चा जब बिलकुल छोटा हो, उसी वक़्त से उसकी तालीम-ओ-तर्बियत का सिलसिला शुरू कर देना चाहिए, ताकि ये चीज़ें आदत बनकर उसकी ज़िंदगी में दाख़िल हो जाएँ। इस तालीम-ओ-तर्बियत के तीन ख़ास पहलू हैं— दीन, अख़्लाक़ और डिसिप्लिन।

सवाल-ओ-जवाब

सवाल : क़ुरआन में यह दुआ आई है—

رَبَّنا لَا تَجْعَلْنا فِتْنَةً لِلْقَوْمِ الظَّالِمِينَ.

"ऐ हमारे रब, हमें ज़ालिम लोगों के लिए फ़ित्ना न बना।"

(क़ुरआन, 10:85)

इसी तरह सूरह अल-मुम्तहना में है—

رَبَّنَا لَا تَجْعَلْنَا فِتْنَةً لِلَّذِينَ كَفَرُوا.

"ऐ हमारे रब, हमें मुनकिरों के लिए फ़ित्ना न बना।"

(क़ुरआन, 60:5)

इन दोनों आयतों में "हमें ज़ालिमों के लिए फ़ित्ना न बना" का मतलब क्या है?

जवाब : अल्लाह तआला ने इस दुआ के ज़रिए अहले-ईमान को यह तालीम दी है कि वे किसी भी ऐतबार से ग़ैर-अहले-हक़ को फ़ित्ना उठाने का मौक़ा न दें। एक मुफ़स्सिर ने इसकी तफ़्सीर इन अलफ़ाज़ में की है—

لا تجعلنا سببا لزيادة طغيانهم.

"ऐ रब, हमें सबब न बना, उनकी सरकशी में इज़ाफ़े का।"

(तफ़्सीर मज़हरी, जिल्द 5, सफ़्हा 50)

इसका मतलब यह है कि हम अपनी तरफ़ से कोई ऐसा ग़लत इक़दाम न करें, जिससे किसी को यह जवाज़ (justification) मिले कि वह हमारे ऊपर ज़ुल्म करे, वह हमें दीन पर अमल करने और उसकी तब्लीग़ करने से रोके।

असल यह है कि पैग़ंबर-ए-इस्लाम सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम के बाद आलमी हालात में एक नया तारीख़ी अमल (historical process) शुरू हुआ, जो इस हद तक पहुँचा कि अल्लाह के दीन को उमूमी एतिराफ़ (general acceptance) का दर्जा हासिल हो गया। अब 'अपने' और 'ग़ैर' (we and they) का फ़र्क़ मिट गया है। मौजूदा दौर में कुछ लोग अगर मोमिनीन हैं, तो बाक़ी लोग मुईय्यदीन (supporters) हैं। इस तरह अहले-ईमान को यह मौक़ा मिला है कि

वे किसी भी क़िस्म की हक़ीक़ी रुकावट के बग़ैर अल्लाह के दीन पर अमल करें और इसे सारे आलम में पहुँचाएँ।

अब दुनिया कामिल मज़हबी आज़ादी के दौर में है। अब इस्लाम की दावत के लिए दूसरी क़ौमों की तरफ़ से कोई हक़ीक़ी रुकावट नहीं। मौजूदा ज़माने में अगर कोई शख़्स या गिरोह हक़ीक़ी मआनों में पुर-अम्न तरीक़े-कार को इख़्तियार करते हुए अपने दीन पर अमल करता है और इसे दूसरों तक हिकमत के साथ पहुँचाता है, तो उसे हरगिज़ किसी से किसी क़िस्म के जब्र या तशद्दुद का सामना पेश नहीं आएगा। अब अगर रुकावट पैदा हो सकती है, तो सिर्फ़ उस वक़्त, जबकि मुसलमान ख़ुद अपने किसी ग़ैर-हकीमाना अमल की बिना पर लोगों को ग़ैर-ज़रूरी तौर पर अपना मुख़ालिफ़ बना लें। वे 'आ बैल मुझे मार' का तरीक़ा इख़्तियार करके दूसरों के अंदर ऐसा रद्दे-अमल (reaction) पैदा करें कि जो उनके लिए अमलन मुवाफ़िक़ कौम बने हुए हैं, वे ग़ैर-ज़रूरी तौर पर उनके मुख़ालिफ़ बन जाएँ।

सवाल : अज़ाब-ए-क़ब्र के बारे में कुछ बताएँ?

जवाब : रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने फ़रमाया:

إِنَّ القَبْرَ أَوَّلُ مَنْزِلٍ مِنْ مَنَازِلِ الآخِرَةِ، فَإِنْ نَجَا مِنْهُ فَمَا بَعْدَهُ أَيْسَرُ مِنْهُ، وَإِنْ لَمْ يَنْجُ مِنْهُ فَمَا بَعْدَهُ أَشَدُّ مِنْهُ.

"क़ब्र आख़िरत की मंज़िलों में से पहली मंज़िल है। अगर कोई इससे नजात पा गया, तो उसके बाद का रास्ता आसानतर है और जो कोई इसमें बच न सका, तो उसके लिए बाद का रास्ता सख़्त मुश्किल है।"

(सुनन अल-तिर्मिज़ी, हदीस नंबर 2308)

क़ब्र दूसरी ज़िंदगी का दरवाज़ा है। हममें से हर एक ने किसी-न-किसी शख़्स के लिए इस दरवाज़े को खुलते हुए और फिर उसके ऊपर बंद होते हुए देखा है, मगर हममें से बहुत कम लोग हैं, जो यह जानते हैं

कि ख़ुद उनके लिए भी यह दरवाज़ा खोला जाएगा और फिर उसी तरह बंद होगा, जिस तरह वह दूसरों के ऊपर हमेशा के लिए बंद हो चुका है।

इस मामले में असल मसला यह नहीं है कि क़ब्र में किस तरह की पकड़ होगी या किस तरह का इनाम दिया जाएगा। अज़ाब ख़्वाह कम हो या ज़्यादा, अज़ाब इंसान के लिए तकलीफ़ ही है। इसलिए असल फ़िक्रमंदी की बात यह है कि एक इंसान यह सोचे कि उसने क़ब्र के लिए कैसी तैयारी की है। एक मर्तबा एक सहाबी ने रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम से पूछा था कि क़यामत कब आएगी? आपने इसे क़यामत का वक़्त बताने के बजाय यह पूछा था—

तुमने उसके लिए क्या तैयारी की है?

وَمَاذَا أَعْدَدْتَ لَهَا.

(सहीह अल-बुख़ारी, हदीस नंबर 3688)

यही सवाल यहाँ भी इंसान को अपने आपसे पूछना चाहिए कि वह अगर क़ब्र या क़यामत के ताल्लुक़ से फ़िक्रमंद है, तो उसने वहाँ की गिरफ़्त से बचने के लिए क्या मंसूबा-बंदी की है।

हक़ीक़त-पसंदी

पैग़ंबर-ए-इस्लाम सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने उम्मत को एक हिदायत इन अलफ़ाज़ में दी थी—

> “मेरी तारीफ़ बड़ा-चढ़ाकर न करो (لَا تُطْرُونِي), जैसा कि नसरानी (ईसाई) ने इब्ने मरयम की तारीफ़ में मुबालग़ा किया। मैं तो सिर्फ़ अल्लाह का एक बंदा हूँ, तुम सिर्फ़ यह कहो कि अल्लाह का बंदा और उसका रसूल।”
>
> (सहीह अल-बुख़ारी, हदीस नंबर 3445)

इस हिदायत पर ग़ौर कीजिए, तो मालूम होता है कि इसका मक़सद उम्मत को एक अज़ीम ख़तरे से बचाना था और वह है ग़ैर-हक़ीक़त-पसंदाना मिज़ाज। पैग़ंबर के बारे में क़ुरआन में आया है कि वे एक बशर थे और मज़ीद बात यह थी कि अल्लाह ने उनपर वह्य नाज़िल की (18:110), लेकिन जब उम्मत 'इतरा' (बड़ा-चढ़ाकर तारीफ) का मामला करे, तो उसका लाज़िमी नतीजा यह होता है कि उम्मत के अंदर ग़ैर-हक़ीक़त-पसंदाना मिज़ाज परवरिश पाता है यानी अमानी (wishful thinking) का मिज़ाज। मबनी बर हक़ीक़त प्लानिंग का मिज़ाज उनके अंदर ख़त्म हो जाता है।

यह मिज़ाज इस तरह आता है कि लोग पहले अपने पैग़ंबर को 'शहनशाह-ए-कौनैन' और 'फ़ख़्र-ए-मौजूदात' जैसे लक़ब बड़ा-चढ़ाकर देते हैं। फिर यह मिज़ाज आम होकर दूसरे मफ़रूज़ा बड़ों के लिए बोला जाने लगता है। मसलन— 'इमाम', 'अकाबिर', 'शेख़-उल-आलम', 'क़ायिम-उज़-ज़माँ' और 'सैयद-उल-मिल्लत' वग़ैरह, मगर यह सब ग़ैर-हक़ीक़त-पसंदी यानी क़सीदा-ख़्वानी की ज़बान है और क़सीदा-ख़्वानी का मिज़ाज हमेशा लोगों के अंदर तख़्लीक़ी फ़िक्र (creative thinking) का अमल रोक देता है। लोग इज्तिहाद के बजाय फ़िक्री-जमूद (intellectual stagnation) का शिकार हो जाते हैं, इसलिए पैग़ंबर-ए-इस्लाम ने इस मिज़ाज से अपनी उम्मत को शिद्दत के साथ रोका है।

No. 50760/90

शांति और आध्यात्मिकता पर और किताबें।

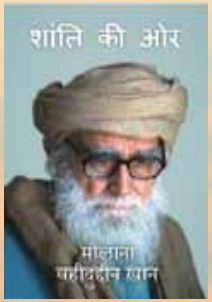

आध्यात्मिक सेट

₹30/-

₹40/-

₹20/-

₹40/-

₹30/-

₹45/-

₹20/-

₹40/-